श्रद्धा सुमन -2

ओ३म्

उपासना का मार्ग

-स्वामी दयानन्द सरस्वती

॥ओ३म् ॥

उपासना का मार्ग

स्वामी दयानन्द सरस्वती

सम्पादक

आचार्य (डॉ०) नरेश कुमार शास्त्री

प्रकाशक

श्रीमती राजमोहिनी सोंधी

'वलवीर राज राजमोहिनी सोंधी फैमिली चैरीटेबल ट्रस्ट'

३१७–न्यू जवाहर नगर, जालन्धर।

स्व. श्री वलबीर राज सोंधी की ९ मार्च १९९५ को

द्वितीय पुण्य तिथि पर प्रकाशित

प्रथम संस्करण

१९९५

मूल्य

सप्रेम उपहार

वितरक—
श्री गुरु विरजानन्द स्मारक समिति ट्रस्ट
जी.टी. रोड, करतारपुर, १४४ ८०१ जिला जालन्धर (पंजाब)

यह 'उपासना का मार्ग' नामक पुस्तक
श्रीमती राजमोहिनी सोंधी ने
अपने
स्वर्गीय पतिदेव श्री बलबीर राज सोंधी की
पवित्र स्मृति में
'बलबीर राज राज मोहिनी सोंधी फैमिली चैरीटेबल ट्रस्ट'
जालन्धर की ओर से प्रकाशित की।

समर्पण

"जिनकी चरणरजों में वर्षों, पाया प्रेम अपार।
ज़िनकी स्मृतियाँ करें आज भी, बीते क्षण साकार॥
पतिदेव उन तुमको अर्पित, श्रद्धामय-उपहार।
'प्रभु-उपासना के सुमार्ग का जिसमें है विस्तार॥"

—राज मोहिनी सोंधी

सम्पादकीय

'उपासना' का अर्थ है, उप (समीप) आसन— समीप में बैठना। 'प्रभु-उपासना' का अर्थ होगा, 'प्रभु के समीप बैठना'। परन्तु प्रभु तो सर्वव्यापक है। वेद भगवान् कहते हैं—**'ईशा वास्यमिदं सर्वम्'** (यजु०) —यह सारा ब्रह्माण्ड उस परमेश्वर से व्याप्त है— कण-कण में बस रहा है। प्रभु से निकटतम वस्तु इस मनुष्य के लिए क्या हो सकती है ? जब प्रभु हमारे निकटतम है, हमारे पास ही बैठा है, तो फिर 'प्रभु उपासना' का क्या अर्थ ?

प्रभु तो हमारे समीप है, परन्तु हम प्रभु के समीप नहीं। हम अपने काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि के कारण सदा उससे दूर रहते हैं। 'प्रभु-उपासना' का अर्थ है—"प्रतिक्षण उस पावन प्रभु को अपने अङ्ग-सङ्ग अनुभव करना। अपने प्रत्येक कर्म और चेष्टा में उस मङ्गलमय प्रभु को साक्षी समझना। और उसे साक्षी मान कर कभी विपरीत आचरण न करना, पाप मार्ग से सदैव दूर रहना।"

महर्षि दयानन्द अद्‌भुत प्रभुभक्त हैं, उनका चिन्तन सर्वथा यथार्थवादी और व्यवहारिक है। वे स्तुति, प्रार्थना, उपासना, भक्ति, पूजा-पाठ, संस्कार आदि सभी को मनुष्य-निर्माण के साथ जोड़ते हैं। उनके इस स्वस्थ चिन्तन में मनुष्य समाज की आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार की उन्नति समाहित है। उनके विचार से स्तुति-प्रार्थना केवल ईश्वर का गुणकीर्तन या याचना ही नहीं है, अपितु ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना द्वारा ईश्वर के गुणों को स्वयं में धारण करना है, पुरुषार्थ की प्रेरणा प्राप्त करना है, आत्मिक रूप से सबल होना है, अपने मन को निश्छल, निष्कपट, निष्पाप और पवित्र बनाना है। ऋषि का स्पष्ट वचन है—**"जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुणकीर्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता, उसका स्तुति करना व्यर्थ है।"**

'सत्यार्थप्रकाश' ऋषि का अमरग्रन्थ है। उसी ग्रन्थ के सप्तम समुल्लास को 'उपासना का मार्ग' के नाम से प्रस्तुत किया गया है। सरलता के लिए पुस्तक के मूलभाग को छोटे-छोटे अनुच्छेदों में बांटा गया है। अर्थ-बोध के लिए आवश्यक शब्द कोष्ठकों में दिए गए हैं। साथ ही अत्यावश्यक टिप्पणी भी दी गयी हैं। इस कार्य में हमने 'रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़' द्वारा

प्रकाशित एवं श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा सम्पादित 'सत्यार्थ प्रकाश' के 'शताब्दी-संस्करण' की पूर्ण सहायता ली है, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

यह पुस्तक श्रीमती राजमोहिनी सोंधी ने अपने पूज्य पति स्व. श्री बलबीर राज सोंधी की द्वितीय पुण्य तिथि पर प्रकाशित कर अपने पूज्य पति का सच्चा श्राद्ध किया है। प्रकाशन के इस शुभ अवसर पर श्री बलबीर राज सोंधी के परिवार का परिचय आवश्यक समझते हुए नीचे दिया जा रहा है—

श्री बलबीर राज सोंधी का परिवार-परिचय

श्रीमती राजमोहिनी सोंधी (पत्नी)

श्री आलोक सोंधी (पुत्र) , श्रीमती अनुराधा सोंधी (पुत्रवधु)

श्री विवेक सोंधी (पुत्र) , श्रीमती वन्दना सोंधी (पुत्रवधु)

श्रीमती कीर्ति धवन (पुत्री) , श्री अनीश धवन (दामाद)

श्रीमती ज्योति सग्गी (पुत्री) , श्री राजन सग्गी (दामाद)

पुस्तक के प्रकाशन में सोंधी परिवार ने श्रद्धा के साथ-साथ पूर्ण उदारता का परिचय दिया है। उसी के परिणाम स्वरूप यह पुस्तक उत्तम मुद्रण, आकर्षक आवरणपृष्ठ तथा उत्तम कागज आदि विशेषताओं से युक्त हो सकी है। इसके लिए मैं सोंधी परिवार को हार्दिक बधाई देता हूँ। आशा है यह प्रकाशन सभी सज्जनों के लिए मंगलकारी तथा उपयोगी सिद्ध होगा।

अन्त में परिवार के लिए भगवान् वेद के शब्दों में ही मंगल कामना करूँगा— **'अनुव्रतः पितुः पुत्रः मात्रा भवतु संमना'** (अथर्व०) श्री आलोक सोंधी तथा श्री विवेक सोंधी दोनों पुत्र एवं पुत्रियाँ अपने पूजास्पद पिता श्री बलबीर राज सोंधी के प्रत्येक श्रेष्ठ आदर्श को तथा उत्तम गुणों को अपने जीवन में सार्थक करते हुए अपने पिता के सच्चे अनुव्रती बनें, अपनी पूज्या माता श्रीमती राजमोहिनी सोंधी की आज्ञाओं का पालन करें। यह परिवार निरन्तर फले फूले, यश प्राप्त करे।

शुभ कामनाओं के साथ—

आचार्य (डॉ०) नरेश कुमार शास्त्री

दोआबा कालेज, जालन्धर।

शुभ कामना

प्रस्तुत पुस्तक **'उपासना का मार्ग'** सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास का अविकल रूप है। इसमें साधक और साधिकाओं के लिए वैदिक रीति से ईश्वर भक्ति का आदेश एवं उपदेश है। इसे पूज्या माता राजमोहिनी सोंधी धर्मपत्नी स्वर्गीय बलबीर राज सोंधी ने प्रकाशित कराया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इससे सभी आस्तिक भाई-बहनों को मार्ग दर्शन मिलेगा। इस परिवार की धार्मिक वृत्ति, सेवा भाव एवं दानशीलता से सभी परिचित हैं। प्रभु इनकी धार्मिक वृत्ति स्थिर रखे।

शुभ कामनाओं सहित—

आर्यभिक्षुः विद्यावाचस्पति

प्रधान

महर्षि दयानन्द निर्वाण स्मारक न्यास

अजमेर (राजस्थान)

निवास—

५५ आर्यवानप्रस्थ आश्रम

ज्वालापुर (हरिद्वार)

आभार

पूज्य पतिदेव श्री बलबीर राज सोंधी की पुण्यस्मृति में गतवर्ष **'श्रद्धा-सुमन-पुस्तकमाला'** आरम्भ की थी। जिसका प्रथम पुष्प **'वैदिक-नित्यकर्म-निधि'** के नाम से 1994 ई. में प्रकाशित किया गया था। सभी ने इस पुस्तक को बड़े चाव से पढ़ा और इसका सदुपयोग किया, जिससे मुझे अपार सन्तोष मिला।

पुस्तक इतनी प्रसिद्ध हुयी कि भारत से बाहर लन्दन, कैनेडा आदि देशों में यह पुस्तक पहुंची और सभी ने इसे बहुत पसन्द किया। पुस्तक का प्रथम संस्करण 6 महीने में ही समाप्त हो गया। पुस्तक की माँग लगातार बनी रही। अब उसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित करवाकर, मैंने इसे लागत मूल्य पर वितरित करने का पूर्ण दायित्व **'श्री गुरु विरजानन्द स्मारक समिति ट्रस्ट-करतारपुर'** को सौंप दिया है।

प्रस्तुत पुस्तक **'उपासना का मार्ग'** 'श्रद्धा-सुमन-पुस्तकमाला' का द्वितीय पुष्प है। यह पुस्तक मैं अपने पूज्य पतिदेव को सादर समर्पित कर रही हूं। जिनसे मुझे सदैव सत्प्रेरणा, पुरुषार्थ-बुद्धि तथा सहयोग मिलता रहा है।

वे सदा ही सच्चे साथी की भांति पग-पग पर मेरा ध्यान रखते थे और हर उस बात का ज्ञान कराते थे, जिसे वे मेरे उत्थान और प्रतिष्ठा में आवश्यक समझते थे। वे सच्चे अर्थों में मुझे श्रेष्ठ अर्द्धांगिनी (Better-half) का स्थान देते थे। उनकी सदैव यही हार्दिक इच्छा रहती थी, कि जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आए वह स्वावलम्बी हो —अपने पैरों पर खड़ा हो —वह अपने बुद्धिबल पर अपना काम स्वयं करे। मुझमें भी उन्होंने सदा यही भावना भरी। हर परिस्थिति में उत्साह तथा धैर्य बनाए रखने की प्रेरणा दी। उनकी वह प्रेरणा ही उनके अभाव में आज मेरा सम्बल बनी हुई है। उनकी स्मृति और विचार दोनों मिलकर मुझे निरन्तर उत्साहित करते हैं।

मेरे वे पति ही नहीं अपितु गुरु भी थे, मैंने उनसे बहुत कुछ सीखा । वे हर दुविधा से मुझे उभारते थे । कर्म में उनकी अपार निष्ठा थी । भावनाओं में बहकर कर्त्तव्य की अवहेलना करना उनकी जीवनशैली में नहीं था । उनके पारिवारिक, व्यापारिक तथा सामाजिक जीवन में अनेक ऐसे अवसर आए, जब भावना और कर्त्तव्य में से एक को चुनना होता था । परन्तु सभी अवसरों पर उन्होंने भावना की अपेक्षा कर्त्तव्य को अधिमान दिया । निर्भीकता, स्पष्टवादिता तथा निश्चयात्मक निर्णय लेने की उनमें अपार क्षमता थी ।

अन्तिम क्षणों में वे रोग के कारण शारीरिक रूप से अत्यधिक अस्वस्थ हो गए थे, परन्तु आत्मिक रूप से उनका सम्बल पूरी तरह बना हुआ था । मस्तिष्क की कार्यशीलता में कोई क़मी दिखाई नहीं पड़ती थी । उन्हें अत्यधिक शारीरिक कष्ट सहना पड़ा, परन्तु उन्होंने इस कष्ट को प्रभु की न्याय रूपी इच्छा मानते हुए सहन किया । इन कठिन क्षणों में ही उन्होंने ज़रूरतमन्दों की सहायता के उद्देश्य से **'बलबीर राज राजमोहिनी सोंधी फैमिलि चैरीटेबल ट्रस्ट'** जालन्धर की स्थापना की । धन्य है उनका आत्मिक बल, उस महामना के चरणों में मेरा सश्रद्ध प्रणाम है ।

इस परिवार में बहुत बड़ी-बड़ी विभूतियाँ हुई हैं । जिनका सारा जीवन ही परोपकार, देश-सेवा तथा आत्म-संयम में बीता । **पूज्या माता श्रीमती लक्ष्मी देवी जी सोंधी** का जीवन मेरे लिए सदैव आदर्श रहा है । वे एकसाथ ही आदर्श माँ और आदर्श पत्नी थी । उनका रोम-रोम परोपकार से भरपूर था । उनके हर कर्म में प्रभु बसा हुआ था ।

वे महर्षि दयानन्द तथा आर्यसमाज से बहुत प्रभावित थी । वे नियमपूर्वक बड़ी श्रद्धा से प्रातः सायं दोनों समय घर में संध्या-हवन करती थी । वे अपने मधुर स्वभाव से परिवार के हर छोटे बड़े को यज्ञ पर बिठा ही लेती थी । आयुपर्यन्त वे स्त्री आर्य-समाज अड्डा होशियारपुर, जालन्धर की मन्त्री या प्रधाना रही । जो सदस्या समाज में नहीं आ पाती थी, उन्हें प्रेरित करने के लिए वे स्त्री समाज की सभी सदस्याओं को साथ ले कर उनके घर में ही

यज्ञ करने का कार्यक्रम बना लेती थी। आर्यसमाज की उन्नति के लिए वे आजीवन सक्रिय रही। उन्हें लोग चलता फिरता आर्यसमाज कहते थे।

प्रस्तुत पुस्तक **'उपासना का मार्ग'** 'सत्यार्थ प्रकाश' का सातवां समुल्लास है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि लोग इससे आध्यात्मिक लाभ उठाएंगे। इसे प्रकाशित करने की प्रेरणा मुझे श्रद्धास्पद महात्मा आर्यभिक्षु जी महाराज से मिली। मैं हृदय से उनकी आभारी हूं।

पुस्तक के मूलभाग में छोटे-छोटे पैराग्राफ बनाकर, आवश्यक शब्द जोड़कर तथा टिप्पणी आदि देकर आचार्य (डॉ०) नरेश कुमार जी ने इस पुस्तक को सरल-सुबोध बनाने में बहुत परिश्रम किया है। इस सहयोग के लिए मैं हृदय से उनकी कृतज्ञ हूं।

श्री अश्विनी कुमार शर्मा, प्रिंसिपल दोआबा कालेज जालन्धर, कुछ वर्षों से श्री सोंधी जी के निकट सम्पर्क में रहे। उन्होंने बड़ी निष्ठा से श्री सोंधी जी का अति संक्षिप्त किन्तु पूर्ण जीवन परिचय लिखकर मुझे उपकृत किया है, मैं उनकी भी हार्दिक आभारी हूं।

मुझे अपार सन्तोष है कि मेरे पुत्र चि० अलोक तथा चि० विवेक की परिवार, व्यापार, चैरिटेबल ट्रस्ट तथा सामाजिक कार्यों के प्रति अपने पिता की तरह ही पूर्ण रुचि है और वे पूरी दक्षता से अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर रहे हैं। उन्होंने अपने पिता के प्रशिक्षण तथा आज्ञाओं को शिरोधार्य किया है। भगवान् उन पर उनके पूर्वजों का आशीर्वाद बनाये रखे।

मेरी परम प्रभु से यह भी प्रार्थना है कि वह हम सब परिवारजनों पर अपनी कृपादृष्टि बनाए रखे तथा अपनी भक्ति का वरदान दे। जिससे हम सदा उसका स्मरण करते रहें और सन्मार्ग से कभी विचलित न हों।

1995 — **राजमोहिनी सोंधी**
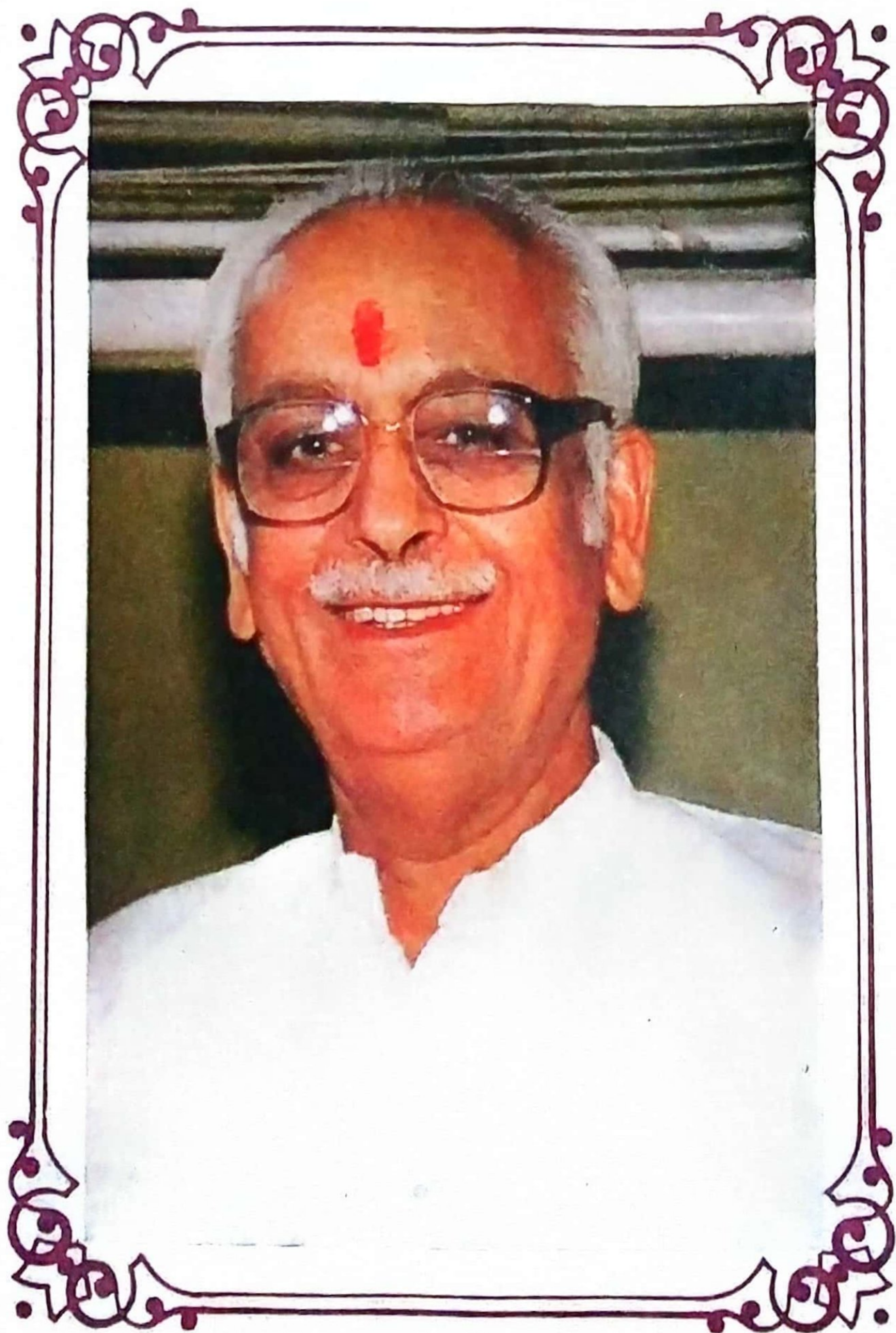
स्वर्गीय श्री बलबीर राज सोंधी
(19.6.26 – 9.3.93)

एक कर्मठ व्यक्तित्व–

स्वर्गीय श्री बलबीर राज सोंधी

अद्वितीय व्यक्तित्व के स्वामी तथा बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री बलबीर राज सोंधी जालन्धर के सुप्रतिष्ठित सोंधी परिवार के ऐसे सपूत थे, जिन्होंने अपने अतुल परिश्रम और अद्भुत कार्यक्षमता से अपने पूर्वजों की कीर्ति को द्विगुणित कर दिया। आपका जन्म १९ जून १९२६ ई० को जालन्धर में हुआ। आपके पिता का नाम था श्री गर्न्धवराज सोंधी और माता थी स्वनामधन्या श्रीमती लक्ष्मी देवी सोंधी । महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त, आर्यसमाज के स्तम्भ, प्रसिद्ध समाज सेवक तथा प्रातः स्मरणीय लाला देवराज सोंधी आपके दादा थे।

लाला देवराज जी जालन्धर की उन गणमान्य विभूतियों में से एक थे, जिन्होंने भारतीय नवजागरण का बीड़ा स्त्रीशिक्षा के माध्यम से उठाया था। इसी उद्देश्य से उन्होंने १८८६ ई० में जालन्धर के प्रसिद्ध 'कन्या महाविद्यालय' की स्थापना की। आपने इस कन्या महाविद्यालय की स्थापना करते हुए हल्दीघाटी से मिट्टी लाकर इस की नींव में डाली, जिससे इस संस्था में पढ़ने वाली कन्याएं देशभक्त हों।

लाला जी की बहन शिव देवी का विवाह लाला मुंशीराम से हुआ था, जो बाद में स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से विख्यात हुये तथा जिन्होंने भारतीय शिक्षा जगत् के सिरमौर 'गुरुकुल कांगड़ी विश्व विद्यालय' की स्थापना की थी। लाला जी के पूज्य पिता श्री राय सालिगराम सोंधी की पवित्र स्मृति में 'राय सालिग राम सोंधी चैरिटेबल हस्पताल' की स्थापना जालन्धर में १९०१ ई० में की गयी, जिसकी देख रेख अन्तिम क्षणों तक श्री बलबीर राज सोंधी स्वयं करते रहे।

रायज़ादा भगत राम सोंधी लाला जी के छोटे भाई थे जो विख्यात बैरिस्टर थे। जिन्होंने शहीदे आज़म भगत सिंह के मुकदमें की पैरवाई की थी। इनके छोटे भाई रायज़ादा हंसराज थे, जो नेहरू परिवार के अति निकट थे तथा स्वतन्त्रता के पश्चात् संयुक्त पंजाब के सर्व प्रथम

पार्लियामेण्ट सदस्य थे। लाला जी के बड़े भाई लाला बालकराम सोंधी के पुत्र लाला बिन्द्रावन सोंधी थे, जिन्होंने दोआबा कालेज़ जालन्धर की स्थापना की थी।

ऐसे उच्च परिवार से सम्बन्धित श्री बलवीर राज सोंधी आजीवन अनेक सामाजिक, शैक्षणिक, धार्मिक तथा वित्तीय संगठनों से जुड़े रहे तथा सभी संगठनों की उन्नति में तन-मन-धन से अपना सक्रिय सहयोग प्रदान किया। आप कन्या महाविद्यालय जालन्धर, दोआबा कालेज जालन्धर, देव राज सी० सै० स्कूल जालन्धर और जालन्धर माडल स्कूल की प्रबन्धक समिति 'आर्य शिक्षा मण्डल' के ९ वर्ष तक कोषाध्यक्ष तथा ६ वर्ष तक वरिष्ठ-उप-प्रधान रहे। अपने अनथक प्रयत्नों से अन्तिम समय तक इन संस्थाओं का मार्ग-दर्शन करते रहे।

भवन-निर्माण समिति के प्रधान के रूप में की गई सेवाओं के लिए आपका योगदान इन संस्थाओं के इतिहास के साथ सदैव जुड़ा रहेगा। वे कहा करते थे— **'भावनाओं से कर्त्तव्य अधिक ऊँचा है'**। कैंसर जैसे घातक रोग से पीड़ित होते हुए भी आप अपने अन्तिम क्षणों तक सामाजिक सेवा कार्यों में सक्रिय रहे।

श्री बलबीर राज जी सोंधी को शैक्षिणक, सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों में अभिरुचि की प्रेरणा अपनी पूज्या माता श्रीमती लक्ष्मीदेवी सोंधी से प्राप्त हुयी। माता लक्ष्मीदेवी जी ने अपने पूर्वजों द्वारा स्थापित कन्या महाविद्यालय में ही शिक्षा ग्रहण की। सामाजिक कार्यों के लिए उन्होंने परम्परा से प्राप्त आर्य समाज अड्डा होश्यारपुर, जालन्धर को केन्द्र के रूप में अपनाया। अपने सामर्थ्य के अनुसार वे आर्य समाज की धार्मिक और सामाजिक गतिविधियों के अतिरिक्त स्वतन्त्रता संग्राम में भी बढ़-चढ़कर भाग लेती रही।

ऐसी धर्म-परायणा माता का संस्कारित जीवन भला अपने पुत्र को परिश्रमी, कर्मठ, समाजसेवी तथा निरन्तर पुरुषार्थशील जीवन के लिए प्रेरणाप्रद क्यों न होगा ? पुत्र के साथ-साथ उनकी पुत्रवधु श्रीमती राजमोहिनी सोंधी ने भी सास के रूप में अपनी माँ श्रीमती लक्ष्मीदेवी को ही अपना प्रेरणास्रोत बनाया जो जीवन भर अपने पति श्री बलबीर

राज सोंधी के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर हर क्षेत्र में अपना सक्रिय सहयोग करती रही।

श्रीमती लक्ष्मीदेवी के इस सुपुत्र श्री बलवीर राज सोंधी ने अपने पैतृक व्यवसाय जिमींदारी से हटकर व्यापार की ओर कदम बढ़ाया। 'पंजाब काश्मीर फाईनैंस प्रा० लि०' की १९५८ ई० में स्थापना की। जो आज उत्तर भारत की सर्वोत्कृष्ट विश्वसनीय फाईनैंस कम्पनी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'पंजाब रिलायेबल इन्वैस्टमैंट प्रा० लि०' एवं 'रिलायेबल एग्रो इन्जीनियरिंग प्रा० लि०' की भी स्थापना की। वे इन तीनों कम्पनियों के चेयरमैन तथा मैनेजिंग डायरेक्टर थे।

आप 'पंजाब एण्ड हरियाणा फाइनैंस कम्पनी एसोशियेशन' के संस्थापक-प्रधान अपने अन्तिम समय तक रहे। 'मशीनरी एण्ड मिल स्टोर एसोशियेशन' की स्थापना की। भारतीय स्तर पर 'फेडरेशन ऑफ इण्डियन हॉयर परचेज़ एसोशियेशन' की स्थापना की तथा चार वर्ष तक इसके महामंत्री पद पर रहते हुए आपने श्री नगर, मद्रास, कलकत्ता एवं बम्बई में चार स्मरणीय अधिवेशन आयोजित करके इस संगठन को राष्ट्रीय रूप प्रदान किया। १९७१ ई० में आप 'जालन्धर सिटीजन वैलफेयर एसोशियेशन' के महामंत्री भी रहे, जबकि श्री लाला जगत् नारायण (पंजाब केसरी) इस संगठन के प्रधान थे। इसी संगठन के माध्यम से आपने घायलों की रक्त दान आदि से तथा जरूरतमन्दों की धन आदि से बढ़चढ़ कर सहायता की। १९६२ ई० में भारत- चीन युद्ध के समय और १९६५ ई० तथा १९७१ ई० में भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय आपने जालन्धर के नागरिकों को 'आत्मरक्षा शिविर' के द्वारा आत्मरक्षा के लिए जागृत किया।

आपका सामाजिक जीवन व्यावसायिक जीवन की भांति बहुपक्षीय था। 'रोटरी क्लब जालन्धर' के १९७०-७१ ई० में आप प्रधान रहे। आपकी सेवा, लगन और कार्यदक्षता के कारण 'रोटरी क्लब' के भिन्न-भिन्न गवर्नरों ने आपको अपनी सलाहकार समिति में स्थान दिया। जालन्धर के प्रसिद्ध 'बाबा हरबल्लभ संगीत सम्मेलन' के आप चार वर्ष तक मंत्री रहे तथा सम्मेलन में नये कीर्तिमान स्थापित किए। आपके मार्गदर्शन

में जालन्धर के जिस कला केन्द्र भवन की आधार शिला रखी गयी थी उसी पर आज 'राजेश्वरी कला संगम' का भव्य भवन निर्मित है। इन्हीं के साथ-साथ आप छः वर्षों तक 'जीवन बीमा निगम उत्तरी क्षेत्र' की सलाहकार समिति के सदस्य भी रहे।

श्री बलबीरराज सोंधी ने अपने ज्ञान की वृद्धि केवल पुस्तकों से नहीं की अपितु देश विदेश के भ्रमण से भी इसे बढ़ाया। सम्पूर्ण भारत के अतिरिक्त अमेरिका, कैनेडा, यूरोप तथा एशिया के अनेक देशों में गये। तभी तो उनके जीवन में भारतीयता एवं पश्चिमी सभ्यता के सद्गुणों का सम्मिश्रण था।

'चरैवेति-चरैवेति' आपके जीवन का मूलमंत्र था और इसी मंत्र को आप ने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक सार्थक किया। जीवन यात्रा समाप्त करने से कुछ दिन पूर्व आपने 'बलबीर राज राजमोहिनी सोंधी फैमिलि चैरिटेबल ट्रस्ट' की स्थापना की। जो निर्धन एवं योग्य छात्रों को छात्रवृत्ति तथा पुस्तक आदि की सहायता से शैक्षणिक क्षेत्र में सक्रिय है।

श्री बलबीर राज सोंधी इतने दूरदर्शी थे कि अपनी मृत्यु से पूर्व उन्होंने अपने दोनों पुत्रों श्री आलोक सोंधी तथा श्री विवेक सोंधी को अपने निजी पारिवारिक उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त चैरिटेबल ट्रस्ट, 'आर्य शिक्षा मण्डल' तथा अन्य सामाजिक संगठनों की कार्य विधि के संबन्ध में इतना दक्ष कर दिया कि जिससे वे उनके बाद उनके पारिवारिक, सामाजिक तथा शैक्षणिकक्षेत्र के सभी उत्तरदायित्त्वों को सफलता पूर्वक निभा सकें।

श्री सोंधी जी में यह शिक्षण कला आरम्भ से ही थी। अपने साथ कार्य करने वाले हर व्यक्ति को वे निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा तो देते ही थे, साथ ही व्यापार या अन्य कार्य की सूक्ष्मताओं का तथा मार्ग में आने वाली कठिनाईयों को हल करने की कलाओं का प्रशिक्षण भी दिया करते थे।

इसी के फलस्वरूप उनके अनेक साथियों ने अपना अलग से फाईनैंस या अन्य व्यापार आरम्भ किया, जिसमें वे सफल हुए। ये सफल उद्योगी अपनी सफलता में श्री सोंधी जी से प्राप्त मार्ग दर्शन की महत्ता को कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार करते हैं। यह कर्मठ व्यक्तित्व जिसने अपने जीवन की ज्योति से व्यापार क्षेत्र में पदार्पण करने वालों के लिए, समाजसेवियों के लिए तथा संस्थाओं के सूत्रधारों के लिए एक नया मार्ग प्रशस्त कर दिया। वे श्री बलवीर राज सौंधी ९ मार्च १९९३ को अपना नश्वर देह त्याग कर अमर हो गए। मानों यह कह कर चले गए—

'यह महफिल यूँ ही मुस्कराती रहेगी,
यह शमां यूँ ही जगमगाती रहेगी।
यह जश्नो मेले कभी कम न होंगे,
यह सब कुछ तो होगा, मगर हम न होंगे॥'

इस कर्मयोगी को हमारा कोटि कोटि प्रणाम है।

अश्विनी कुमार शर्मा
प्राचार्य- दोआबा कॉलेज, जालन्धर
तथा
रजिष्ट्रार, आर्य विद्या परिषद्
आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब
जालन्धर

कहाँ क्या है ?

॥ओ३म्॥

गायत्री-महामन्त्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

—यजु० ३६ । ३ ॥

भावार्थ— हे प्राण-प्रिय, दुःख-विनाशक, सुख-स्वरूप प्रभो ! हम आप के दिव्य तेज को धारण करते हैं। आप हमारी बुद्धियों को श्रेष्ठ मार्ग पर प्रेरित करें।

कविता-अर्थ

'ओम्' हों रक्षक हमारे, सब गुणों की खान हों।
'भूः' सदा सब प्राणियों में, प्राण के भी प्राण हों॥
'भुवः' सब दुःखों को करते, दूर कृपानिधान हों।
'स्वः' सदा सुखरूप सुखमय, सुखद सुखधि महान् हों॥
'तत्' वही सुप्रसिद्ध ब्रह्म, देववर्णित सार हो।
देव 'सवितुः' सर्व उत्पादक हो, पालनहार हो॥
शुभ 'वरेण्यम्' वरण करने योग्य भगवन् आप हो।
शुद्ध 'भर्गः' मल रहित, निर्लेप हो, निष्पाप हो॥
दिव्यगुण 'देवस्य' दिव्य-स्वरूप देव अनूप के।
'धीमहि' धारें हृदय में, दिव्यगुण सब आपके॥
'धियो यो नः' वह हमारी, बुद्धियों का हित करें।
'अमर' 'प्रचोदयात्' नित, सन्मार्ग पर प्रेरित करें॥

प्रार्थना

हे सर्वाधार, सर्वान्तर्यामिन् परमेश्वर ! तुम अनंत काल से अपने उपकारों की वर्षा किये जाते हो। प्राणिमात्र की सम्पूर्ण कामनाओं को तुम्ही प्रतिक्षण पूर्ण करते हो। हमारे लिए जो कुछ शुभ है तथा हितकर है उसे तुम बिना मांगे ही स्वयं हमारी झोली में डालते जाते हो। तुम्हारे आंचल में अविचल शान्ति तथा आनन्द का वास है। तुम्हारी चरण-शरण की शीतल छाया में परम तृप्ति है, शाश्वत सुख की उपलब्धि है तथा सब अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति है।

हे जगत्पिता परमेश्वर ! हम में सच्ची श्रद्धा तथा विश्वास हो। हम तुम्हारी अमृतमयी गोद में बैठने के अधिकारी बनें। अन्त:करण को मलिन बनाने वाली स्वार्थ तथा संकीर्णता की सब क्षुद्र भावनाओं से हम ऊंचे उठें। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि कुटिल भावनाओं तथा सब मलिन वासनाओं को हम दूर करें। अपने हृदय की आसुरी प्रवृत्तियों के साथ युद्ध में विजय पाने के लिए हे प्रभो ! हम तुम्हें पुकारते हैं और तुम्हारा आँचल पकड़ते हैं।

हे परम पावन प्रभो ! हम में सात्त्विक प्रवृत्तियां जागरित हों। क्षमा, सरलता, स्थिरता, निर्भयता, अहङ्कारशून्यता इत्यादि शुभ भावनाएँ हमारी सम्पत्ति हों। हमारा शरीर स्वस्थ तथा परिपुष्ट हो, मन सूक्ष्म तथा उन्नत हो, आत्मा पवित्र तथा सुन्दर हो, तुम्हारे संस्पर्श से हमारी सारी शक्तियां विकसित हों। हृदय दया तथा सहानुभूति से भरा हो। हमारी वाणी में मिठास हो तथा दृष्टि में प्यार हो। विद्या और ज्ञान से हम परिपूर्ण हों। हमारा व्यक्तित्व महान् तथा विशाल हो।

हे प्रभो ! अपने आशीर्वादों की वर्षा करो। दीनातिदीनों के मध्य में विचरने वाले तुम्हारे चरणारविन्दों में हमारा जीवन अर्पित हो, इसे अपनी सेवा में लेकर हमें कृतार्थ करें।

ओ३म् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ओ३म् ॥

उपासना का मार्ग

(ईश्वर के गुणों का वर्णन)

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे
समासते ॥ १ ॥ ऋ० ॥ मं०१ । सू० १६४ । मं० ३९ ॥

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ २ ॥
यजु० ॥अ०४० । मं०१ ॥

अहम्भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः ।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि
भोजनम् ॥३ ॥ ऋ० ॥ मं० १० । सू० ४८ । मं० १ ॥

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽवतस्थे कदा चन ।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये
रिषाथन ॥४ ॥ ऋ० ॥ मं० १० । सू० ४८ । मं० ५ ॥

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम्।
अहं भुवं यजमानस्य चोदिताऽयज्वनः साक्षि
विश्वस्मिन्भरे ॥५॥ ऋ० ॥ मं. १० । सू. ४९ । मं. १ ॥

(ऋचो अक्षरे) जो सब दिव्य गुण कर्म स्वभाव विद्यायुक्त और जिसमें पृथिवी सूर्य्यादि लोक स्थित हैं; और जो आकाश के समान व्यापक, सब देवों का देव परमेश्वर है, उसको जो मनुष्य न जानते न मानते और उसका ध्यान नहीं करते, वे नास्तिक मन्दमति सदा दुःखसागर में डूबे ही रहते हैं। इसलिये सर्वदा उसी को जानकर सब मनुष्य सुखी होते हैं।

(क्या वेद में अनेक ईश्वर कहे हैं ?)

प्रश्न— वेद में ईश्वर अनेक हैं, इस बात को तुम मानते हो, वा नहीं ?

उत्तर— नहीं मानते, क्योंकि चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा, जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हों। किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है[१]।

टिप्पणी– १— ईश्वर एक है। इस तथ्य की स्थापना अथर्ववेद काण्ड १३, सूक्त ४, मन्त्र १४–२१ में की गई है। जहाँ **'न द्वितीयो न तृतीयः०'** आदि मन्त्रों द्वारा दूसरे से नौवें तक के ईश्वर का निषेध करके उपसंहार रूप में **'ईश्वर एक ही है'** ऐसा बताया गया है।

('देवता' का अभिप्राय, और ३३ देवों की गणना)

प्रश्न— वेदों में जो अनेक देवता लिखे हैं, उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर— 'देवता' दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण कहाते हैं जैसी कि पृथिवी, परन्तु इसको कहीं ईश्वर (वा) उपासनीय नहीं माना है। देखो इसी मन्त्र में कि —'जिसमें सब देवता स्थित हैं, वह जानने और उपासना करने योग्य ईश्वर है।' यह उनकी भूल है जो **'देवता'** शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं। परमेश्वर देवों का देव होने से **'महादेव'** इसीलिये कहाता है कि वही सब जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकर्त्ता, न्यायधीश अधिष्ठाता है।

जो **'त्रयस्त्रिंशत्त्रिंशता'** इत्यादि वेदों में प्रमाण हैं, इसकी व्याख्या शतपथ में की है कि **'तेतीस देव'** अर्थात् पृथिवी,जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य्य और नक्षत्र सब सृष्टि के निवास स्थान होने से (ये) **'आठ वसु'**। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा ये **'ग्यारह रुद्र'** इसलिये कहाते हैं कि जब शरीर को छोड़ते हैं तब रोदन कराने वाले होते हैं। संवत्सर के बारह महीने **'बारह आदित्य'** इसलिये हैं कि ये सब की आयु को लेते जाते हैं। बिजली का नाम **'इन्द्र'** इस हेतु से है कि वह परम ऐश्वर्य का हेतु है। यज्ञ को **'प्रजापति'** कहने का कारण यह है कि जिससे वायु वृष्टि जल ओषधी की शुद्धि, विद्वानों

का सत्कार और नाना प्रकार की शिल्पविद्या से प्रजा का पालन होता है।

ये तेतीस **'पदार्थ'** पूर्वोक्त गुणों के योग से **'देव'** कहाते हैं। इनका स्वामी और सब से बड़ा होने से परमात्मा चौंतीसवां उपास्य-देव, शतपथ के चौदहवें काण्ड में स्पष्ट लिखा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी लिखा है। जो ये इन शास्त्रों को देखते तो वेदों में अनेक ईश्वर माननेरूप भ्रमजाल में गिरकर क्यों बहकते? ॥१॥

हे मनुष्य! जो कुछ इस संसार में जगत् है, उस सब में व्याप्त होकर (जो उसका) नियन्ता है, वह ईश्वर कहाता है। उससे डर कर तू अन्याय से किसी के धन की आकांक्षा मत कर। उस अन्याय के त्याग और न्यायाचरणरूप धर्म से अपने आत्मा से आनन्द को भोग ॥२॥

ईश्वर सब को उपदेश करता है कि —हे मनुष्यो ! मैं ईश्वर सब के पूर्व विद्यमान सब जगत् का पति हूं। मैं सनातन जगत्कारण और सब धनों का विजय करनेवाला और दाता हूं। मुझ ही को सब जीव जैसे पिता को सन्तान पुकारते हैं, वैसे पुकारें। मैं सब को सुख देनेहारे जगत् के लिये नाना प्रकार के भोजनों का विभाग, पालन के लिये करता हूं ॥३॥

मैं परमैश्वर्य्यवान्, सूर्य के सदृश सब जगत् का प्रकाशक हूं। कभी पराजय को प्राप्त नहीं होता, और न कभी मृत्यु को प्राप्त होता

हूं । मैं ही जगत् रूप धन का निर्माता हूं । सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले मुझ ही को जानो । हे जीवो ! ऐश्वर्य प्राप्ति के यत्न करते हुए तुम लोग विज्ञानादि धन को मुझ से मांगो, और तुम लोग मेरी मित्रता से अलग मत होओ ॥४ ॥

हे मनुष्यो ! मैं सत्यभाषणरूप स्तुति करनेवाले मनुष्य को सनातन ज्ञानादि धन को देता हूं । मैं **'ब्रह्म'** अर्थात् वेद का प्रकाश करनेहारा, और मुझ को वह वेद यथावत् कहता, उससे सब के ज्ञान को मैं बढ़ाता । मैं सत्पुरुष का प्रेरक, यज्ञ करनेहारे को फलप्रदाता, और इस विश्व में जो कुछ है, उस सब कार्य्य का बनाने और धारण करनेवाला हूं । इसलिये तुम लोग मुझ को छोड़ किसी दूसरे को मेरे स्थान में मत पूजो, मत मानो और मत जानो ॥५ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽ आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
६ ॥ यह यजुर्वेद का मन्त्र (१३/४) है ।

हे मनुष्यो ! जो सृष्टि के पूर्व सब सूर्य्यादि तेजवाले लोकों का उत्पत्ति-स्थान आधार, और जो कुछ उत्पन्न हुआ था, है और होगा, उसका स्वामी था है और होगा, वह पृथिवी से लेके सूर्य्यलोक पर्यन्त सृष्टि को बना के धारण कर रहा है । उस सुखस्वरूप परमात्मा ही की भक्ति जैसे हम करें, वैसे तुम लोग भी करो ॥ ६ ॥

(ईश्वर-सिद्धि में प्रत्यक्षादि प्रमाण)

प्रश्न— आप ईश्वर-ईश्वर कहते हो, परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो ?

उत्तर— सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ।

प्रश्न— ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते ।

उत्तर— इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥

यह गौतम महर्षिकृत न्यायदर्शन का सूत्र (१/१/४) है ।

जो श्रोत्र, त्वचा, जिह्वा घ्राण और मन का, शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध सुख-दुःख सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है उसको '**प्रत्यक्ष**' कहते हैं, परन्तु वह निर्भ्रम हो ।

अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं । जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श रूप रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि (कर्म और) ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है ।

और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता, वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने

का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा-ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाता है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का और लज्जा, तथा अच्छे कामों के करने में अभय-निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है।

और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है, तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है ? क्योंकि कार्य को देख के कारण का अनुमान होता है।

(ईश्वर की व्यापकता)

प्रश्न— ईश्वर व्यापक है, वा किसी देशविशेष में रहता है ?

उत्तर— व्यापक है। क्योंकि जो एक देश में रहता तो सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ सर्वनियन्ता सब का स्रष्टा सब का धर्त्ता और प्रलयकर्त्ता नहीं हो सकता। अप्राप्त देश में कर्त्ता की क्रिया का (होना) असम्भव है।

(ईश्वर दयालु और न्यायकारी है)

प्रश्न— परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है, वा नहीं ?

उत्तर— है।

प्रश्न— ये दोनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं। जो न्याय करे

तो दया, और दया करे तो न्याय छूट जाय। क्योंकि 'न्याय' उसको कहते हैं, कि जो कर्मों के अनुसार न अधिक न न्यून सुख-दुःख पहुंचाना और 'दया' उसको कहते हैं, कि जो अपराधी को बिना दण्ड दिये छोड़ देना।

(न्याय और दया शब्दों पर विचार)

उत्तर— न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है। क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है, वही दया से। दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्ध (=बन्द) होकर दुःखों को प्राप्त न हों, वही **'दया'** कहाती है जो पराये दुःखों का छुड़ाना। और जैसा अर्थ दया और न्याय का तुमने किया, वह ठीक नहीं। क्योंकि जिसने जैसा जितना बुरा कर्म किया हो, उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिये, उसी का नाम **'न्याय'** है।

और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाय, तो दया का नाश हो जाय। क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्त्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है। जब एक के छोड़ने में सहस्त्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है, (तब) वह दया किस प्रकार हो सकती है? दया वही है कि उस डाकू को कारागार में रखकर पाप करने से बचाना डाकू पर, और उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्त्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है।

प्रश्न— फिर दया और न्याय दो शब्द क्यों हुए ?

क्योंकि उन दोनों का अर्थ एक ही होता है, तो दो शब्दों का होना व्यर्थ है। इसलिये एक शब्द का रहना तो अच्छा था। इससे क्या विदित होता है, कि दया और न्याय का एक प्रयोजन नहीं है।

उत्तर— क्या एक अर्थ के अनेक नाम, और एक नाम के अनेक अर्थ नहीं होते ?

प्रश्न— होते हैं।

उत्तर— तो पुनः तुमको शङ्का क्यों हुई ?

प्रश्न— संसार में सुनते हैं, इसलिये।

उत्तर— संसार में तो सच्चा-झूठा दोनों सुनने में आता है, परन्तु उसका विचार से निश्चय करना अपना काम है। देखो, ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि जिसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रक्खे हैं। इससे भिन्न दूसरी बड़ी दया कौन सी है ? अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख-दुःख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है[१]। **इन दोनों का इतना ही भेद** है कि जो

टिप्पणी-१— इसका अभिप्राय यह कि 'अधिकता और न्यूनता से होने वाली सुख-दुःख की व्यवस्था ईश्वरीय न्याय के फल को प्रकाशित कर रही है। अर्थात् संसार के प्राणियों में जो सुख-दुःख का उतार-चढ़ाव है, वह उनके पूर्वकृत कर्मों का फल है। ये सुख-दुःख ईश्वर ने प्राणियों को अपनी न्यायव्यवस्था के अनुसार दिए हैं।

मन में सब को सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है (वह '**दया**') और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन छेदनादि यथावत् दण्ड देना '**न्याय**' कहाता है। दोनों का एक (ही) प्रयोजन यह है कि सब को पाप और दुःखों से पृथक् कर देना।

(ईश्वर निराकार है, साकार नहीं)

प्रश्न— ईश्वर साकार है, वा निराकार ?

उत्तर— निराकार। क्योंकि जो साकार होता तो व्यापक नहीं हो सकता। जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते। क्योंकि परिमित वस्तु में गुण कर्म स्वभाव भी परिमित रहते हैं। तथा शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा और रोग-दोष, छेदन-भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता। इससे यही निश्चित है कि ईश्वर निराकार है। जो साकार हो तो उसके नाक, कान, आंख आदि अवयवों का बनानेहारा दूसरा होना चाहिये। क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता हो, उसको संयुक्त करने वाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिये। जो कोई यहां ऐसा कहै कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप ही आप अपना शरीर बना लिया, तो भी वही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व निराकार था। इसलिये परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता, किन्तु निराकार होने से सब जगत् को सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है।

('सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ)

प्रश्न– ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, वा नहीं ?

उत्तर– है। परन्तु जैसा तुम '**सर्वशक्तिमान्**' शब्द का अर्थ जानते हो वैसा नहीं। किन्तु '**सर्वशक्तिमान्**' शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति-पालन-प्रलय आदि, और सब जीवों के पुण्य-पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किञ्चित् भी किसी की सहायता नहीं लेता, अर्थात् अपने सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है।

प्रश्न– हम तो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर चाहै सो करे। क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई नहीं है।

उत्तर– वह क्या चाहता है ? जो तुम कहो कि सब कुछ चाहता और कर सकता है, तो हम तुम से पूछते हैं कि परमेश्वर अपने को मार, अनेक ईश्वर बना, स्वयं अविद्वान् (होकर) चोरी-व्यभिचा-रादि पाप-कर्म कर और दुःखी भी हो सकता है ? जैसे ये काम ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव से विरुद्ध हैं, तो जो तुम्हारा कहना कि 'वह सब कुछ कर सकता है,' यह कभी नहीं घट सकता। इसलिये '**सर्वशक्तिमान्**' शब्द का अर्थ जो हमने कहा वही ठीक है।

(ईश्वर अनादि है)

प्रश्न– परमेश्वर सादि है, वा अनादि ?

उत्तर— अनादि । अर्थात् जिसका आदि कोई कारण वा समय न हो, उसको '**अनादि**' कहते हैं[1] ।

प्रश्न— परमेश्वर क्या चाहता है ?

उत्तर— सब की भलाई ,और सब के लिए सुख चाहता है । परन्तु स्वतन्त्रता के साथ किसी को बिना पाप किये पराधीन नहीं करता ।

(ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना-उपासना का फल)

प्रश्न— परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए, वा नहीं ?

उत्तर— करनी चाहिये ।

प्रश्न— क्या स्तुति आदि से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति-प्रार्थना करनेवाले का पाप छुड़ा देगा ?

उत्तर— नहीं ।

प्रश्न— तो फिर स्तुति-प्रार्थना क्यों करना ?

उत्तर— उनके करने का फल अन्य ही है ।

प्रश्न— क्या है ?

उत्तर— स्तुति से —ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधारना ।

टिप्पणी—१. जिसके पूर्व कुछ न हो और परे हो, उसको '**आदि**' कहते हैं । जिसका आदि = कारण कोई भी नहीं है, इसीलिए परमेश्वर का नाम '**अनादि**' है ।

(सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास)

प्रार्थना से — निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना।

उपासना से— परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना।

(स्तुति के दो भेद = सगुण और निर्गुण स्तुति)

प्रश्न— इनको स्पष्ट करके समझाओ।

उत्तर— जैसे **ईश्वर की स्तुति**

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥१॥ यजु० ॥ अ० ४० । मं० ८ ॥

वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान्, जो शुद्ध सर्वज्ञ, सबका अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयंसिद्ध, परमेश्वर अपनी जीवरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है, यह **'सगुण स्तुति'**। अर्थात् जिस-जिस गुण से सहित परमेश्वर की स्तुति करना वह सगुण।(और) 'अकाय' = अर्थात् वह कभी शरीर धारण वा जन्म नहीं लेता, जिसमें छिद्र नहीं होता, नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता, और कभी पापाचरण नहीं करता, जिसमें क्लेश दुःख अज्ञान कभी नहीं होता, इत्यादि जिस-जिस राग-द्वेषादि गुणों से पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना है, वह **'निर्गुण स्तुति'** है। इसका फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं, वैसे गुण कर्म स्वभाव अपने भी करना, जैसे वह न्यायकारी है, तो आप भी

न्यायकारी होवे। और जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुण-कीर्तन करता जाता, और अपने चरित्र नहीं सुधारता, उसका स्तुति करना व्यर्थ है। प्रार्थना—

(कैसी प्रार्थना करनी चाहिए)

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥१ ॥ यजु० ॥ अ० ३२ । मं० १४ ॥

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्य्यमसि वीर्य्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥२ ॥
यजुः ॥ अ.१९ । मं.९ ॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥३ ॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥४ ॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥५ ॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥६ ॥

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः । यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥७॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव । हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥८॥

यजु० अ. ३४ । मं० १, २, ३, ४, ५, ६ ॥

हे अग्ने ! अर्थात् प्रकाशस्वरूप परमेश्वर आप की कृपा से जिस बुद्धि की उपासना, विद्वान् ज्ञानी और योगी लोग करते हैं, उसी बुद्धि से युक्त हमको इसी वर्त्तमान समय में बुद्धिमान् आप कीजिये ॥१॥

आप प्रकाशस्वरूप हैं, कृपा कर मुझ में भी प्रकाश-स्थापन कीजिये । आप अनन्त-पराक्रम युक्त हैं, इसलिये मुझ में भी कृपा-कटाक्ष से पूर्ण पराक्रम धरिये । आप अनन्त बलयुक्त हैं, इसलिये मुझ मे भी बल धारण कीजिये । आप अनन्त सामर्थ्ययुक्त हैं, (इसलिए) मुझ को भी पूर्ण सामर्थ्य दीजिये । आप दुष्ट काम और दुष्टों पर क्रोधकारी हैं, मुझको भी वैसा ही कीजिये । आप निन्दा-स्तुति और स्वअपराधियों का सहन करने वाले हैं, कृपा से मुझ को भी वैसा ही कीजिये ॥२॥

हे दयानिधे ! आप की कृपा से जो मेरा मन जागते हुए जगत् में दूर-दूर जाता, दिव्यगुणयुक्त रहता है, और वही सोते हुए मेरा मन

सुषुप्ति को प्राप्त होता, वा स्वप्न में दूर-दूर जाने के समान व्यवहार करता, सब प्रकाशकों का प्रकाशक एक वह मेरा मन शिवसंकल्प, अर्थात् अपने और दूसरे प्राणियों के अर्थ कल्याण का संकल्प करनेहारा होवे। किसी की हानि करने की इच्छायुक्त कभी न होवे ॥३ ॥

हे सर्वान्तर्यामी ! जिससे कर्म करनेहारे धैर्ययुक्त विद्वान् लोग यज्ञ और युद्धादि में कर्म करते हैं, जो अपूर्व सामर्थ्ययुक्त पूजनीय और प्रजा के भीतर रहनेवाला है, वह मेरा मन धर्म करने की इच्छायुक्त होकर अधर्म को सर्वथा छोड़ देवे ॥४ ॥

जो उत्कृष्ट ज्ञान और दूसरे को चितानेहारा निश्चयात्मकवृत्ति है, और जो प्रजाओं में भीतर प्रकाशयुक्त और नाशरहित है, जिसके बिना कोई कुछ भी कर्म नहीं कर सकता, वह मेरा मन शुद्ध गुणों की इच्छा करके दुष्ट गुणों से पृथक् रहे ॥५ ॥

हे जगदीश्वर ! जिससे सब योगी लोग इन सब भूत भविष्यत् वर्तमान व्यवहारों को जानते, जो नाशरहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिलके सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है, जिसमें ज्ञान और क्रिया है। पांच ज्ञानेन्द्रिय बुद्धि और आत्मायुक्त रहता है। उस योगरूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं, वह मेरा मन योग-विज्ञानयुक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से पृथक् रहे ॥६ ॥

हे परम विद्वान् परमेश्वर ! आप की कृपा से (जिस) मेरे मन में, जैसे रथ के मध्य धुरा में अरा लगे रहते हैं, वैसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और जिसमें अथर्ववेद भी प्रतिष्ठित होता है, और जिसमें सर्वज्ञ सर्वव्यापक प्रजा का साक्षी चित्त चेतन विदित होता है, वह मेरा मन अविद्या का अभाव कर विद्याप्रिय सदा रहे ॥७ ॥

हे सर्वनियन्ता ईश्वर ! जो मेरा मन रस्सी से घोड़ों के समान अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथि के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर-उधर डुलाता है, जो हृदय में प्रतिष्ठित गतिमान् और अत्यन्त वेग वाला है, वह (मेरा मन) सब इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक के धर्मपथ में सदा चलाया करे । ऐसी कृपा मुझ पर कीजिये ॥८ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम ॥१ ॥

यजु० । अ० ४० । मं० १६ ॥

हे सुख के दाता स्वप्रकाशस्वरूप, सबको जाननेहारे परमात्मन् ! आप हमको श्रेष्ठ मार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइये । और जो हम में कुटिल पापाचरणरूप मार्ग हैं, उससे पृथक् कीजिये । इसीलिये हम लोग नम्रतापूर्वक आपकी बहुत सी स्तुति करते हैं कि आप हमको पवित्र करें ॥१ ॥

मा नो महान्तमुत मा नोऽअर्भकं मा नऽउक्षन्तमुत मा न उक्षितम् । मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥१० ॥ यजु० । अ० १६ । मं० १५ ॥

हे **'रुद्र'** =दुष्टों को पाप के दुःखस्वरूप फल को देके रुलानेवाले परमेश्वर ! आप हमारे छोटे बड़े जन, गर्भ, माता-पिता और प्रिय बन्धुवर्ग तथा उनके शरीरों का हनन करने के लिये प्रेरित मत कीजिये। ऐसे मार्ग से हमको चलाइये जिससे हम आपके दण्डनीय न हों ॥१० ॥

असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमयेति ॥११ ॥ शतपथ ब्रा० (१४ ।३ ।१ ।३०) ॥

हे परमगुरो परमात्मन् ! आप हमको असत् मार्ग से पृथक् कर सन्मार्ग में प्राप्त कीजिये । अविद्यान्धकार को छुड़ा के विद्यारूप सूर्य को प्राप्त कीजिये और मृत्यु रोग से पृथक् करके मोक्ष के आनन्दरूप अमृत को प्राप्त कीजिये ॥११ ॥

अर्थात् जिस-जिस दोष वा दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मान के परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है, वह विधि-निषेधमुख होने से सगुण-निर्गुण-प्रार्थना[१] । जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है, उसको वैसा ही वर्त्तमान करना चाहिये । अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करे, उसके लिये जितना अपने से प्रयत्न हो सके उतना किया करे। अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है ।

टिप्पणी-१— यहाँ विधि-निषेधमुख पद का सम्बन्ध इस प्रकार समझना चाहिए— 'विधिमुख होने से **'सगुण-प्रार्थना'** और निषेधमुख होने से **'निर्गुण-प्रार्थना'** कहलाती है ।

(ऐसी प्रार्थना कभी न करे)

ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये, और न परमेश्वर उसका स्वीकार करता है कि जैसे– 'हे परमेश्वर ! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझ को सबसे बड़ा, मेरी ही प्रतिष्ठा, और मेरे आधीन सब हो जाये' इत्यादि। क्योंकि जब दोनों शत्रु एक दूसरे के नाश के लिए प्रार्थना करें, तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश कर दे ? जो कोई कहै कि जिसका प्रेम अधिक उसकी प्रार्थना सफल हो जावे। तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो, उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिये। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते-करते कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा- 'हे परमेश्वर ! आप हमको रोटी बना कर खिलाइये। मेरे मकान में झाड़ू लगाइये, वस्त्र धो दीजिये, और खेती बाड़ी भी कीजिये।

इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते हैं, वे महामूर्ख हैं। क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है, उसको जो कोई तोड़ेगा वह सुख कभी न पावेगा। जैसे-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ॥

यजु० । अ० ४० । मं० २ ॥

परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त, अर्थात्, जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे। आलसी कभी न हो ॥

देखो सृष्टि के बीच में जितने प्राणी हैं अथवा अप्राणी, वे सब अपने-अपने कर्म और यत्न करते ही रहते हैं । जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते और वृक्ष आदि सदा बढ़ते घटते रहते हैं, वैसे यह दृष्टान्त मनुष्यों को भी ग्रहण करना योग्य है । जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता हैं, वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है । जैसे काम करने वाले पुरुष को भृत्य करते हैं (= रखते है) और अन्य आलसी को नहीं । देखने की इच्छा करने और नेत्र वाले को दिखलाते हैं, अन्धे को नहीं । इसी प्रकार परमेश्वर भी सब के उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, हानिकारक कर्म में नहीं । जो कोई **'गुड़ मीठा'** है ऐसा कहता ही है, उसको गुड़ प्राप्त वा उसको स्वाद प्राप्त कभी नहीं होता और जो यत्न करता है, उसको शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है ।

अब **तीसरी उपासना—**

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् । न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते ।। यह उपनिषद् का वचन है- (मैत्रायणी उप० ४ ।४ ।९) ।

जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं, आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता ।

क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है ॥

'उपासना' शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है । अष्टांग योग से परमात्मा के समीपस्थ होने, और उसको सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामीरूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो-जो काम करना होता है, वह सब करना चाहिये । अर्थात्—

तत्राऽहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः ॥

इत्यादि सूत्र पातञ्जलयोगशास्त्र के हैं- (साधनपाद ३०) ।

जो उपासना का आरम्भ करना चाहै, उसके लिये यही आरम्भ है कि वह किसी से वैर न रक्खे, सर्वदा सब से प्रीति करे । सत्य बोले, मिथ्या कभी न बोले । चोरी न करे, सत्य व्यवहार करे । जितेन्द्रिय हो, लम्पट न हो, और निरभिमानी हो, अभिमान कभी न करे । ये पांच प्रकार के **'यम'** मिल के **'उपासनायोग का प्रथम अङ्ग'** है ।

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

योगसू० (साधनपाद ३२) ॥

राग द्वेष छोड़ भीतर, और जलादि से बाहर पवित्र रहै । धर्म से पुरुषार्थ करने से लाभ में न प्रसन्नता और हानि में न अप्रसन्नता करे । प्रसन्न होकर आलस्य छोड़ सदा पुरुषार्थ किया करे । सदा दुःख-सुखों का सहन और धर्म ही का अनुष्ठान करे, अधर्म का नहीं । सर्वदा सत्य शास्त्रों को पढ़े-पढ़ावे, सत्पुरुषों का संग करे । और

'ओ३म्' इस एक परमात्मा के नाम का अर्थ-विचार करे । नित्यप्रति जप किया करे । अपने आत्मा को परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देवे । इन पांच प्रकार के **'नियमों'** को मिला के **'उपासनायोग का दूसरा अङ्ग'** कहाता है । इसके आगे छः अङ्ग **योगशास्त्र** वा **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में देख लेवें ।

जब उपासना करना चाहै, तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर, आसन लगा प्राणायाम कर बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभिप्रदेश में, वा हृदय कण्ठ नेत्र शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न हो कर संयमी होवें ।

(उपासना के दो भेद और उसका फल)

जब इन साधनों को करता है, तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है । नित्यप्रति ज्ञान विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुंच जाता है । जो आठ प्रहर में एक घड़ी भर भी इस प्रकार ध्यान करता है, वह सदा उन्नति को प्राप्त हो जाता है ।

वहां सर्वज्ञादि गुणों के साथ परमेश्वर की उपासना करनी **'सगुण'** और (राग) द्वेष रूप रस गन्ध स्पर्शादि गुणों से पृथक् मान अतिसूक्ष्म आत्मा के भीतर बाहर व्यापक परमेश्वर में दृढ़ स्थित हो जाना **'निर्गुणोपासना'** कहाती है ।

इसका फल— जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष-दुःख छूट कर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिये परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिये।

(ईश्वर का गुण भूल जाना कृतघ्नता है)

इससे इसका फल पृथक् होगा, परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा (कि) वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरायेगा, और सब को सहन कर सकेगा। क्या यह छोटी बात है ? और जो परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना नहीं करता, वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है। क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों को सुख के लिये दे रक्खे हैं, उसका गुण भूल जाना, ईश्वर ही को न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है।

(बिना हाथ आदि वाला ईश्वर काम कैसे करता है ?)

प्रश्न— जब परमेश्वर के श्रोत्र-नेत्रादि इन्द्रियां नहीं हैं, फिर वह इन्द्रियों का काम कैसे कर सकता है ?

उत्तर— अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥ १॥ यह उपनिषद् का वचन (श्वेता॰ उप॰ ३।१९) है।

परमेश्वर के हाथ नहीं, परन्तु अपनी शक्तिरूप हाथ से सब का रचन ग्रहण करता। पग नहीं, परन्तु व्यापक होने से सबसे अधिक वेगवान्; चक्षु का गोलक नहीं, परन्तु सब को यथावत् देखता। श्रोत्र नहीं, तथापि सब की बातें सुनता। अन्तःकरण नहीं, परन्तु सब जगत् को जानता है। और उसको अवधि सहित जानने वाला कोई भी नहीं। उसी को सनातन सब से श्रेष्ठ, सब में पूर्ण होने से **'पुरुष'** कहते हैं। वह इन्द्रियों और अन्तःकरण से (होने वाले सब) काम अपने सामर्थ्य से करता है ॥१॥

(ईश्वर निष्क्रिय और निर्गुण नहीं)

प्रश्न— उसको बहुत से मनुष्य निष्क्रिय और निर्गुण कहते हैं?

उत्तर— न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्य-धिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥१॥

यह उपनिषद् का वचन है (श्वेताश्वतर उप० ६।८)।

परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य, और उसको करण अर्थात् साधकतम दूसरा अपेक्षित नहीं। न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। सर्वोत्तमशक्ति अर्थात् जिसमें अनन्त-ज्ञान, अनन्त-बल और अनन्त-क्रिया है। वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उसमें सुनी जाती है। जो परमेश्वर निष्क्रिय होता, तो जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय

न कर सकता। इसलिये वह विभु तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है॥

प्रश्न— जब वह क्रिया करता होगा, तब अन्तवाली क्रिया होती होगी, वा अनन्त?

उत्तर— जितने देश काल में क्रिया करनी उचित समझता है, उतने ही देश काल में क्रिया करता है, न अधिक न न्यून। क्योंकि वह विद्वान् है।

(ईश्वर का स्वरूप)

प्रश्न— परमेश्वर अपना अन्त जानता है, वा नहीं ?

उत्तर— परमात्मा पूर्ण ज्ञानी है। क्योंकि **'ज्ञान'** उसको कहते हैं कि जिससे ज्यों-का-त्यों जाना जाय। अर्थात् जो पदार्थ जिस प्रकार का हो, उसको उसी प्रकार जानने का नाम **'ज्ञान'** है। जब परमेश्वर अनन्त है, तो उसको अनन्त ही जानना **ज्ञान**, उससे विरुद्ध **'अज्ञान'**। अर्थात् अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त जानना **'भ्रम'** कहाता है। **'यथार्थदर्शनं ज्ञानमिति'** जिसका जैसा गुण-कर्म- स्वभाव हो, उस पदार्थ को वैसा ही जानकर मानना ही **'ज्ञान और विज्ञान'** कहाता है और उससे उलटा **'अज्ञान'**। इसलिये—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥

योगसू० (समधिपाद— २४)॥

जो अविद्यादि क्लेश, कुशल-अकुशल, इष्ट-अनिष्ट और मिश्र

फलदायक कर्मों की वासना से रहित है, वह सब जीवों से विशेष **'ईश्वर'** कहाता है।

(क्या सांख्य-सूत्रकार आचार्य कपिल अनीश्वरवादी है?)

प्रश्न– ईश्वरासिद्धेः ॥१॥

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥२॥

सम्बन्धाभावादनुमानम् ॥३॥

सांख्य सू० (१।९२; ५।१०; ५।११)॥

प्रत्यक्ष से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती ॥१॥ क्योंकि जब उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष ही नहीं, तो अनुमानादि प्रमाण नहीं घट सकते ॥२॥ और व्याप्ति सम्बन्ध न होने से अनुमान भी नहीं हो सकता। पुनः प्रत्यक्षानुमान के न होने से शब्दप्रमाण आदि भी नहीं घट सकते। इस कारण ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती ॥३॥

उत्तर– यहां ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, और न ईश्वर जगत् का उपादान कारण है। और पुरुष से विलक्षण अर्थात् सर्वत्र पूर्ण होने से **परमात्मा** का नाम **'पुरुष'** और शरीर में शयन करने से **जीव** का भी नाम **'पुरुष'** है। क्योंकि इसी प्रकरण में कहा है—

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ॥१॥

सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्य्यम् ॥ २ ॥

श्रुतिरपि प्रधानकार्य्यत्वस्य ॥ ३ ॥

सांख्य सू० (५ ।८, ९, १२) ॥

यदि पुरुष को प्रधानशक्ति का योग हो, तो पुरुष में सङ्गापत्ति हो जाय । अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से मिलकर कार्यरूप में सङ्गत हुई है, वैसे परमेश्वर भी स्थूल हो जाय । इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं, किन्तु निमित्तकारण है ॥१ ॥

जो चेतन से जगत् की उत्पत्ति हो, तो जैसा परमेश्वर समग्रैश्वर्ययुक्त है वैसा संसार में भी सर्वैश्वर्य का योग होना चाहिये, सो नहीं है । इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं, किन्तु निमित्तकारण है ॥२ ॥

क्योंकि उपनिषद् भी प्रधान ही को जगत् का उपादानकारण कहती है ॥३ ॥ जैसे—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः ॥

यह श्वेताश्वतर उपनिषद् का वचन (४ ।५) है । जो जन्मरहित सत्त्व-रज-तमोगुणरूप प्रकृति है, वही स्वरूपाकार से बहुत प्रजारूप हो जाती है ॥

अर्थात् प्रकृति परिणामिनी होने से अवस्थान्तर हो जाती है । और पुरुष अपरिणामी होने से वह अवस्थान्तर होकर दूसरे रूप में

कभी नहीं प्राप्त होता, सदा कूटस्थ निर्विकार रहता है, और प्रकृति सृष्टि में सविकार और प्रलय में निर्विकार रहती है । इसलिये जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है, जानो वही अनीश्वरवादी है, कपिलाचार्य नहीं ।

(अन्य शास्त्रों में ईश्वर का प्रतिपादन)

तथा मीमांसा **'धर्म-धर्मी'** से, **'ईश्वर'** से वैशेषिक, और न्याय भी **'आत्मा'** शब्द से अनीश्वरवादी नहीं । क्योंकि सर्वज्ञत्वादि धर्मयुक्त, और **'अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा'** जो सर्वत्र व्यापक और सर्वज्ञादि धर्मयुक्त सब जीवों का आत्मा है, उसको मीमांसा, वैशेषिक और न्याय ईश्वर मानते हैं ।

(ईश्वर कभी अवतार नहीं लेता)

प्रश्न— ईश्वर अवतार लेता है, वा नहीं ?

उत्तर — नहीं । क्योंकि **'अज एकपात्'** (यजु० ३४ ।५३), **'सपर्य्यगाच्छुक्रमकायम्'** ये यजुर्वेद (४०/८) के वचन हैं । इत्यादि वचनों से (सिद्ध है कि) परमेश्वर जन्म नहीं लेता ।

प्रश्न— यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।

भ० गी० (४/७) ॥

श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि — जब-जब धर्म का लोप होता है तब-तब मैं शरीर धारण करता हूँ ॥

उत्तर— यह बात वेदविरुद्ध होने से प्रमाण नहीं। और ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्मात्माओं (की) और धर्म की रक्षा करना चाहते थे, कि मैं युग-युग में जन्म लेके, श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूं, तो कुछ दोष नहीं। क्योंकि '**परोपकाराय सतां विभूतयः**' परोपकार के लिए सत्पुरुषों का तन-मन-धन होता है, तथापि इससे श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते।

प्रश्न— जो ऐसा है, तो संसार में चौबीस ईश्वर के अवतार होते हैं, और इनको अवतार क्यों मानते हैं ?

उत्तर— वेदार्थ के न जानने, सम्प्रदायी लोगों के बहकाने, और अपने-आप अविद्वान् होने से भ्रमजाल में फंस के ऐसी-ऐसी अप्रामाणिक बातें करते और मानते हैं।

प्रश्न— जो ईश्वर अवतार न लेवे, तो कंस-रावणादि दुष्टों का नाश कैसे हो सके ?

उत्तर— प्रथम तो जो जन्मा है, वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है। जो ईश्वर अवतार = शरीर धारण किये बिना जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करता है, उसके सामने कंस और रावणादि एक कीड़ी के समान भी नहीं। वह सर्वव्यापक होने से कंस रावणादि के शरीर में भी परिपूर्ण हो रहा है। जब चाहै उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है। भला इस अनन्त-गुण-कर्म-स्वभावयुक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव के मारने के लिए जन्ममरणयुक्त कहने

वाले को मूर्खपन से अन्य कुछ विशेष उपमा मिल सकती है ?

और जो कोई कहे कि भक्तजनों के उद्धार करने के लिए जन्म लेता है, तो भी सत्य नहीं। क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं, उनके उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है। क्या ईश्वर के पृथिवी सूर्य चन्द्रादि जगत् को बनाने, धारण और प्रलय करने रूप कर्मों से कंस-रावणादि का वध और गोवर्धनादि पर्वतों का उठाना बड़े कर्म हैं ? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कर्मों का विचार करे, तो **'न भूतो न भविष्यति'** ईश्वर के सहज कोई न है, न होगा।

और युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता। जैसे कोई अनन्त आकाश को कहै कि **'गर्भ में आया वा मुट्ठी में धर लिया'**, ऐसा कहना कभी सच नहीं हो सकता। क्योंकि आकाश अनन्त और सब में व्यापक है। इससे न आकाश बाहर आता और न भीतर जाता। वैसे ही अनन्त सर्वव्यापक परमात्मा के होने से उसका आना-जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। जाना वा आना वहां हो सकता है, जहां न हो। क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था, जो कहीं से आया ? और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला ? ऐसा ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्याहीनों के सिवाय कौन कह और मान सकेगा ? इसलिए परमेश्वर का जाना-आना जन्म-मरण कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

इसलिए 'ईसा' आदि भी ईश्वर के अवतार नहीं, ऐसा समझ लेना। क्योंकि राग-द्वेष, क्षुधा-तृषा, भय-शोक, दुःख-सुख, जन्म-मरण आदि गुणयुक्त होने से (वे) मनुष्य थे।

(ईश्वर पापों को कभी क्षमा नहीं करता)

प्रश्न— ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है, वा नहीं ?

उत्तर— नहीं। क्योंकि जो पाप क्षमा करे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाए, और सब मनुष्य महापापी हो जायें। क्योंकि क्षमा की बात सुन ही के उनकी पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाये। जैसे राजा अपराधियों के अपराध को क्षमा कर दे, तो वे उत्साहपूर्वक अधिक-अधिक बड़े-बड़े पाप करें। क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा। और उनको भी भरोसा हो जाय कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे। और जो अपराध नहीं करते, वे भी अपराध करने से न डर कर पाप करने में प्रवृत्त हो जायेंगे। इसलिये सब कर्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।

(जीव की स्वतन्त्रता और परतन्त्रता)

प्रश्न— जीव स्वतन्त्र है, वा परतन्त्र ?

उत्तर— अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र, और ईश्वर की व्यवस्था

में परतन्त्र है। **'स्वतन्त्रः कर्ता'** यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है। जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है, वही कर्त्ता है॥

प्रश्न– 'स्वतन्त्र' किसको कहते हैं ?

उत्तर – जिस के आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हों। जो स्वतन्त्र न हो, तो उसको पाप-पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता । क्योंकि जैसे भृत्य स्वामी और सेना-सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मार के (भी) अपराधी नहीं होते, वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और आधीनता से काम सिद्ध हों, तो जीव को पाप वा पुण्य न लगे। उस फल का भागी (भी) प्रेरक परमेश्वर होवे। नरक-स्वर्ग अर्थात् सुख-दुःख की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे।

जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्रविशेष से किसी को मार डाला, तो वही मारने वाला पकड़ा जाता है, और वही दंड पाता है, शस्त्र नहीं। वैसे ही पराधीन जीव पाप-पुण्य का भागी नहीं हो सकता। इसलिए अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र, परन्तु जब वह पाप कर चुकता है, तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है। इसलिए कर्म करने में जीव स्वतन्त्र, और पाप के दुःखस्वरूप फल भोगने में परतन्त्र होता है।

(ईश्वर ने जीव नहीं बनाए, जीव कर्म करने में स्वतन्त्र हैं)

प्रश्न— जो परमेश्वर जीव को न बनाता और सामर्थ्य न देता, तो जीव कुछ भी न कर सकता। इसलिए परमेश्वर की प्रेरणा हीं से जीव कर्म करता है।

उत्तर— जीव उत्पन्न कभी न हुआ, अनादि है। जैसा ईश्वर और जगत् का उपादान कारण नित्य है। और जीव का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाए हुए हैं, परन्तु वे सब जीव के आधीन हैं। जो कोई मन-कर्म-वचन से पाप-पुण्य करता है, वही भोगता है, ईश्वर नहीं (भोगता)।

जैसे किसी कारीगर ने पहाड़ से लोहा निकाला, उस लोहे को किसी व्यापारी ने लिया। उसकी दुकान से लोहार ने ले तलवार बनाई। उससे किसी सिपाही ने तलवार ले ली, फिर उससे किसी को मार डाला। अब यहां जैसे वह लोहे को उत्पन्न करने, उससे लेने, तलवार बनाने वाले और तलवार को पकड़ कर राजा दंड नहीं देता, किन्तु जिसने तलवार से मारा वही दण्ड पाता है, इसी प्रकार शरीरादि की उत्पत्ति करने वाला परमेश्वर उसके कर्मों का भोक्ता नहीं होता, किन्तु जीव को भुगाने वाला होता है।

जो परमेश्वर कर्म कराता, तो कोई जीव पाप नहीं करता। क्योंकि परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप

करने में प्रेरणा नहीं करता। इसलिए जीव अपने काम करने में स्वतन्त्र है। जैसे जीव अपने कामों के करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही परमेश्वर भी अपने कर्मों के करने में स्वतन्त्र है।

(जीव और ईश्वर का स्वरूप तथा गुण-कर्म-स्वभाव)

प्रश्न— जीव और ईश्वर का स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाव कैसा है ?

उत्तर— दोनों चेतनस्वरूप हैं। स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है। परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय, सब को नियम में रखना, जीवों को पाप-पुण्यों के फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म हैं। और जीव के सन्तानोत्पति, उनका पालन, शिल्पविद्या आदि अच्छे-बुरे कर्म हैं। ईश्वर के नित्यज्ञान, आनन्द, अनन्त, बल आदि गुण हैं। और जीव के—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥

न्याय सू० (१/१/१०)।

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखे इच्छा-द्वेषौ प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥

वैशेषिक सूत्र (३/२/४)।

दोनों सूत्रों में **(इच्छा)** पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा, **(द्वेष)** दुःखादि की अनिच्छा वैर, **(प्रयत्न)** पुरुषार्थ बल, **(सुख)**

आनन्द, **(दुःख)** विलाप अप्रसन्नता, **(ज्ञान)** विवेक पहिचानना ये तुल्य हैं। परन्तु वैशेषिक में **(प्राण)** प्राणवायु को बाहर निकालना, **(अपान)** प्राण को बाहर से भीतर को लेना, **(निमेष)** आंख को मींचना, **(उन्मेष)** आंख को खोलना, **(जीवन)** प्राण का धारण करना, **(मनः)** निश्चय स्मरण और अहंकार करना, **(गति)** चलना, **(इन्द्रिय)** सब इन्द्रियों को चलाना, **(अन्तर्विकार)** भिन्न-भिन्न क्षुधा-तृषा हर्ष-शोकादियुक्त होना (ये विशेष हैं)। ये जीवात्मा के गुण परमात्मा (के गुणों) से भिन्न हैं। इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी, क्योंकि वह स्थूल नहीं है ॥

जब तक आत्मा देह में होता है, तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं। और जब शरीर छोड़ चला जाता है, तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हों और न होने से न हों, वे गुण उसी के होते हैं। जैसे दीप और सूर्यादि के न होने से प्रकाशादि का न होना और होने से होना है, वैसे ही जीव और परमात्मा का विज्ञान गुणद्वारा होता है।

(परमेश्वर के त्रिकालदर्शी होने की विवेचना)

प्रश्न— परमेश्वर त्रिकालदर्शी है, इससे भविष्यत् की बातें जानता है। वह जैसा निश्चय करेगा, जीव वैसा ही करेगा। इससे जीव स्वतन्त्र नहीं। और जीव को ईश्वर दण्ड भी नहीं दे सकता। क्योंकि जैसा ईश्वर ने अपने ज्ञान से

निश्चित किया है, वैसा ही जीव करता है।

उत्तर— ईश्वर को **'त्रिकालदर्शी'** कहना मूर्खता का काम है। क्योंकि जो होकर न रहै वह **'भूतकाल'** और न होके होवे वह **'भविष्यत्काल'** कहाता है। क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है? इसलिये परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस, अखण्डित वर्तमान रहता है। भूत-भविष्यत् जीवों के लिये है। हां, जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं। जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है, वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है। और जैसा ईश्वर जानता है, वैसा जीव करता है। अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान के ज्ञान और फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र। और जीव किञ्चित् वर्तमान और कर्म करने में स्वतन्त्र है। ईश्वर का अनादि ज्ञान होने से और जैसा कर्म का ज्ञान है, वैसा ही दण्ड देने का भी ज्ञान अनादि है। दोनों ज्ञान उसके सत्य हैं। क्या कर्मज्ञान सच्चा और दण्डज्ञान मिथ्या कभी हो सकता है? इसलिये इसमें कोई भी दोष नहीं आता।

(जीव और ईश्वर का सम्बन्ध)

प्रश्न— जीव शरीर में भिन्न विभु है, वा परिच्छिन्न ?

उत्तर— परिछिन्न। जो विभु होता तो जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति, मरण-जन्म, संयोग-वियोग, जाना-आना कभी नहीं हो सकता। इसलिए जीव का स्वरूप अल्पज्ञ , अल्प अर्थात् सूक्ष्म है। और

परमेश्वर अतीव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर अनन्त सर्वज्ञ और सर्वव्यापक-स्वरूप है। इसलिए जीव और परमेश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।

प्रश्न— जिस जगह में एक वस्तु होती है, उस जगह में दूसरी वस्तु नहीं रह सकती। इसीलिये जीव और ईश्वर का संयोग सम्बन्ध हो सकता है, व्याप्य-व्यापक नहीं।

उत्तर— यह नियम समान आकारवाले पदार्थों में घट सकता है, असमानाकृति में नहीं। जैसे लोहा स्थूल (और) अग्नि सूक्ष्म होता है, इस कारण से लोहे में विद्युत् अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश में दोनों रहते हैं। वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है। जैसे यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध जीव-ईश्वर का है—वैसा ही सेव्य-सेवक, आधाराधेय, स्वामिभृत्य, राजा-प्रजा और पिता-पुत्र आदि भी सम्बन्ध हैं।

प्रश्न— ब्रह्म और जीव जुदे हैं वा एक ?

उतर— अलग अलग हैं।

(ये वाक्य जीव और ब्रह्म की एकता के बोधक नहीं)

प्रश्न— जो पृथक्-पृथक् हैं, तो—

प्रज्ञानं ब्रह्म ॥१ ॥ (ऐतरेय उप० ५/३), **अहं ब्रह्मास्मि** ॥२ ॥ (बृहदारण्यक उप० १/४/१०), **तत्त्वमसि** ॥३ ॥ (छान्दोग्य उप० ६/८/७), **अयमात्मा ब्रह्म** ॥४ ॥ (माण्डूक्य उप० २)

वेदों के इन महावाक्यों का अर्थ क्या है ?

उत्तर— ये वेदवाक्य ही नहीं हैं, किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के वचन हैं और इनका नाम महावाक्य कहीं सत्यशास्त्रों में नहीं लिखा।

('अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य पर विचार)

'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् **(अहम्)** मैं **(ब्रह्म)** अर्थात् ब्रह्मस्थ **(अस्मि)** हूं। यहां **तात्स्थ्योपाधि** है; जैसे **'मञ्चाः क्रोशन्ति'** मचान पुकारते हैं। मचान जड़ हैं, उनमें पुकारने का सामर्थ्य नहीं। इसलिये मञ्चस्थ मनुष्य पुकारते हैं । इसी प्रकार यहां भी जानना।

कोई कहै कि **'ब्रह्मस्थ सब पदार्थ हैं; पुनः जीव को ब्रह्मस्थ कहने में क्या विशेष है ?'** इसका उत्तर यह है कि सब पदार्थ ब्रह्मस्थ हैं। परन्तु जैसा साधर्म्ययुक्त निकटस्थ जीव है, वैसा अन्य नहीं। और जीव को ब्रह्म का ज्ञान, और मुक्ति में वह ब्रह्म के साक्षात्सम्बन्ध में रहता है। इसलिये जीव को ब्रह्म के साथ **'तात्स्थ्य वा तत्सहचारितोपाधि'** अर्थात् ब्रह्म का सहचारी जीव है। इससे जीव और ब्रह्म एक नहीं।

जैसे कोई किसी से कहै कि मैं और यह एक हैं, अर्थात्

अविरोधी हैं, वैसे जो जीव समाधिस्थ (हो) परमेश्वर में प्रेमबद्ध होकर निमग्न होता है, वह कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी एक अवकाशस्थ हैं। जो जीव परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल अपने गुण-कर्म-स्वभाव करता है, वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है।

('तत्त्वमसि' वाक्य पर विचार)

प्रश्न— अच्छा तो इसका अर्थ कैसा करोगे — (तत्) ब्रह्म (त्वं) तू जीव (असि) है। (अर्थात्) हे जीव! (त्वम्) तू (तत्) वह ब्रह्म (असि) है।

उत्तर— तुम '**तत्**' शब्द से क्या लेते हो ?

प्रश्न— 'ब्रह्म'।

उत्तर— ब्रह्मपद की अनुवृत्ति कहां से लाये ?

प्रश्न— 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।' इस पूर्व वाक्य से।

उत्तर— तुमने इस छान्दोग्य उपनिषद् का दर्शन भी नहीं किया। जो वह देखी होती, तो वहां ब्रह्म शब्द का पाठ ही नहीं है। ऐसा झूठ क्यों कहते ? किन्तु '**छान्दोग्य**' में तो—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'।

(छान्दोग्य उप० ६/२/१)।

ऐसा पाठ है। वहां '**ब्रह्म**' शब्द नहीं।

प्रश्न— तो आप 'तत्' शब्द से क्या (अर्थ) लेते हैं ?

उत्तर— स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ॥ छान्दो० । (६/८/७) ॥

वह परमात्मा जानने योग्य है । जो यह अत्यन्त सूक्ष्म और इस सब जगत् और जीव का आत्मा है । वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है । हे श्वेतकेतो प्रियपुत्र ! **'तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि'** उस परमात्मा अन्तर्यामी से तू युक्त है ॥

यही अर्थ उपनिषदों से अविरुद्ध है क्योंकि—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् । आत्मनोऽन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।

यह बृहदारण्यक का वचन (माध्यन्दिन बृहदारण्यक उप० ३/७/३०) है ।

महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं कि —हे मैत्रेयि ! जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है । जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है । जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर, अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है । जीवात्मा से भिन्न रहकर जीव के पाप-पुण्यों का साक्षी होकर उनके फल जीवों को देकर नियम में रखता है । वही अविनाशी-स्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है । उसको तू जान ।

क्या कोई इत्यादि वचनों का अन्यथा अर्थ कर सकता है ?

('अयमात्मा ब्रह्म' वाक्य पर विचार)

'अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् समाधिदशा में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है, तब वह कहता है कि 'यह जो मेरे में व्यापक है, वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है' इसलिए जो आजकल के वेदान्ती जीव ब्रह्म की एकता करते हैं, वे वेदान्तशास्त्र को नहीं जानते ।

(क्या ईश्वर ही जीवरूप में शरीर में प्रविष्ट है ?)

प्रश्न – अनेन आत्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ॥ छां० (६/३/२) ॥

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ॥

तैत्तिरीय० (ब्रह्मानन्द वल्ली ६) ॥

परमेश्वर कहता है कि मैं जगत् और शरीर को रचकर जगत् में व्यापक और जीवरूप होके शरीर में प्रविष्ट होता हुआ नाम और रूप की व्याख्या करूँ ॥१ ॥ परमेश्वर ने उस जगत् और शरीर को बना कर उसमें वही प्रविष्ट हुआ ॥२ ॥ इत्यादि श्रुतियों का अर्थ दूसरा कैसे कर सकोगे ?

उत्तर– जो तुम पद, पदार्थ और वाक्यार्थ जानते; तो ऐसा अनर्थ कभी न करते ! क्योंकि यहां ऐसा समझो–एक प्रवेश और दूसरा अनुप्रवेश अर्थात् पश्चात् प्रवेश कहाता है । परमेश्वर शरीर में प्रविष्ट हुए जीवों के साथ अनुप्रविष्ट के समान होकर, वेद द्वारा सब

नाम रूप आदि की विद्या को प्रकट करता है। और शरीर में जीव को प्रवेश करा आप जीव के भीतर अनुप्रविष्ट हो रहा है। जो तुम 'अनु' शब्द का अर्थ जानते, तो वैसा विपरीत अर्थ कभी न करते।

('चेतन मात्र साधर्म्य से जीव और ब्रह्म एक नहीं)

प्रश्न— 'सोऽयं देवदत्तो य उष्णाकाले काश्यां दृष्टः, स इदानीं प्रावृट्समये मथुरायां दृश्यते' अर्थात् जो देवदत्त मैंने उष्णकाल में काशी में देखा था, उसी को वर्षा-समय में मथुरा में देखता हूँ। यहां काशी देश उष्णकाल को छोड़कर शरीरमात्र में लक्ष्य करके देवदत्त लक्षित होता है। वैसे इस भागत्यागलक्षणा से ईश्वर का परोक्ष देश काल माया उपाधि और जीव का यह देश काल अविद्या और अल्पज्ञता उपाधि छोड़ चेतनमात्र में लक्ष्य देने से एक ही ब्रह्म वस्तु दोनों में लक्षित होता है। इस 'भागत्यागलक्षणा' अर्थात् कुछ ग्रहण करना और कुछ छोड़ देना- जैसा सर्वज्ञत्वादि वाच्यार्थ ईश्वर का और अल्पज्ञत्वादि वाच्यार्थ जीव को छोड़ कर चेतनमात्र लक्ष्यार्थ का ग्रहण करने से 'अद्वैत' सिद्ध होता है। यहां क्या कह सकोगे ?

उत्तर— प्रथम तुम जीव और ईश्वर को नित्य मानते हो वा अनित्य ?

प्रश्न— इन दोनों को उपाधिजन्य कल्पित होने से अनित्य मानते हैं।

उत्तर— उस उपाधि को नित्य मानते हो, वा अनित्य ?

(नवीन वेदान्तियों के ६ अनादि पदार्थों का खण्डन)

प्रश्न— हमारे मत में—

जीवेशौ च विशुद्धाचिद्विभेदस्तु तयोर्द्वयोः।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥१ ॥
कार्य्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्य्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥२ ॥

ये '**संक्षेपशारीरक**' और '**शारीरकभाष्य**' में कारिका है— हम वेदान्ती छः पदार्थों अर्थात् एक जीव, दूसरा ईश्वर, तीसरा ब्रह्म, चौथा जीव और ईश्वर का विशेष भेद, पांचवां अविद्या = अज्ञान और छठा अविद्या और चेतन का योग इनको अनादि मानते हैं ॥१ ॥

परन्तु एक ब्रह्म अनादि अनन्त, और अन्य पांच अनादि सान्त हैं, जैसा कि प्रागभाव होता है। जब तक अज्ञान रहता है, तब तक ये पांच रहते हैं। और इन पांच की आदि विदित नहीं होती। इसलिए अनादि, और ज्ञान होने के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं, इसलिए सान्त अर्थात् नाशवाले कहाते हैं ॥२ ॥

उत्तर— यह तुम्हारें दोनों श्लोक अशुद्ध हैं । क्योंकि अविद्या के योग के बिना जीव, और माया के योग के बिना ईश्वर तुम्हारे मत में सिद्ध नहीं हो सकता । इससे **'तच्चितोर्योगः'** जो छठा पदार्थजहां-तुमने गिना है, वह नहीं रहा । क्योंकि वह अविद्या-माया-जीव ईश्वर में चरितार्थ हो गया । और ब्रह्म तथा माया और अविद्या के योग के बिना ईश्वर नहीं बनता । फिर ईश्वर को अविद्या और ब्रह्म से पृथक् गिनना व्यर्थ है । इसलिए दो ही पदार्थ अर्थात् ब्रह्म और अविद्या तुम्हारे मत में सिद्ध हो सकते हैं, छः नहीं ।

तथा आपका प्रथम कार्योपाधि-कारणोपाधि से जीव और ईश्वर का सिद्ध करना तब हो सकता (है) कि जब अनन्त नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावसर्वव्यापक ब्रह्म में अज्ञान सिद्ध करें । जो उसके एक देश में स्वाश्रय और स्वविषयक अज्ञान अनादि सर्वत्र मानोगे, तो सब ब्रह्म शुद्ध नहीं हो सकता, और जब एक देश में अज्ञान मानोगे, तो वह परिच्छिन्न होने से इधर-उधर आता जाता रहेगा ।

जहां जाएगा वहां-वहां का ब्रह्म अज्ञानी, और जिस- जिस देश को छोड़ता जायेगा, उस-उस देश का ब्रह्म ज्ञानी होता रहेगा । तो किसी देश के ब्रह्म को अनादि शुद्ध ज्ञानयुक्त न कह सकोगे । और जो अज्ञान की सीमा में ब्रह्म है, वह अज्ञान को जानेगा । बाहर और भीतर के ब्रह्म के टुकड़े हो जायेंगे । जो कहो कि टुकड़ा हो जाओ, ब्रह्म की क्या हानि ? तो अखण्ड नहीं, और जो अखण्ड है तो अज्ञानी

नहीं। तथा ज्ञान के अभाव वा विपरीत ज्ञान भी गुण होने से किसी द्रव्य के साथ नित्य सम्बन्ध से रहेगा। यदि ऐसा है तो समवाय सम्बन्ध होने से अनित्य कभी नहीं हो सकता।

और जैसे शरीर के एक देश में फोड़ा होने से सर्वत्र दुःख फैल जाता है, वैसे ही एक देश में अज्ञान-सुख-दुःख क्लेशों की उपलब्धि होने से सब ब्रह्म दुःखादि के अनुभव से युक्त होगा और सब ब्रह्म को शुद्ध न कह सकोगे। वैसे ही कार्योपाधि अर्थात् अन्तःकरण की उपाधि के योग से ब्रह्म को जीव मानोगे, तो हम पूछते हैं कि ब्रह्म व्यापक है वा परिच्छिन्न ? जो कहो व्यापक और उपाधि परिछिन्न है, अर्थात् एकदेशी और पृथक् -पृथक् है तो अन्तःकरण चलता फिरता है वा नहीं ?

उत्तर— चलता फिरता है।

प्रश्न— अन्तःकरण के साथ ब्रह्म भी चलता फिरता है, वा स्थिर रहता है ?

उत्तर— स्थिर रहता है।

प्रश्न— जब अन्तःकरण जिस - जिस देश को छोड़ता है उस-उस देश का ब्रह्म अज्ञानरहित, और जिस -जिस देश को प्राप्त होता है उस-उस देश का शुद्ध ब्रह्म अज्ञानी होता होगा। वैसे क्षण में ज्ञानी और अज्ञानी ब्रह्म होता रहेगा। इससे मोक्ष और बन्ध भी क्षणभङ्ग होगा। और जैसे अन्य के देखे का अन्य स्मरण नहीं कर

सकता, वैसे कल की देखी सुनी हुई वस्तु वा बात का ज्ञान नहीं रह सकता। क्योंकि जिस समय देखा सुना था वह दूसरा देश और दूसरा काल, जिस समय स्मरण करता वह दूसरा देश और (दूसरा) काल है।

जो कहो कि ब्रह्म एक है। तो सर्वज्ञ क्यों नहीं ? जो कहो कि अन्तःकरण भिन्न-भिन्न हैं, इससे वह भी भिन्न-भिन्न हो जाता होगा, तो वह जड़ है, उसमें ज्ञान नहीं हो सकता। जो कहो कि न केवल ब्रह्म और न केवल अन्तःकरण को ज्ञान होता है, किन्तु अन्तःकरणस्थ चिदाभास को ज्ञान होता है। तो भी चेतन ही को अन्तःकरण द्वारा ज्ञान हुआ, तो वह नेत्रद्वारा अल्प-अल्पज्ञ क्यों हैं ? इसलिये कारणोपाधि और कार्योपाधि के योग से ब्रह्म, जीव और ईश्वर नहीं बन सकोगे।

किन्तु **'ईश्वर'** नाम ब्रह्म का है, और ब्रह्म से भिन्न अनादि अनुत्पन्न और अमृतस्वरूप जीव का नाम **'जीव'** है। जो तुम कहो कि जीव चिदाभास का नाम है, तो वह क्षणभङ्ग होने से नष्ट हो जायेगा। तो मोक्ष का सुख कौन भोगेगा ? इसलिए ब्रह्म जीव और जीव ब्रह्म कभी न हुआ, न है और न होगा।

('अद्वैत' शब्द का अर्थ और उसकी सिद्धि)

प्रश्न— तो 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'

॥ छान्दोग्य०(६/२/१) ॥

अद्वैतसिद्ध कैसी होगी ? हमारे मत में तो ब्रह्म से पृथक् कोई सजातीय, विजातीय और स्वगत अवयवों के भेद न होने से एक ब्रह्म ही सिद्ध होता है । जब जीव दूसरा है, तो अद्वैतसिद्धि कैसे हो सकती है ?

उत्तर— इस भ्रम में पड़ क्यों डरते हो ? **'विशेष्य -विशेषण'** विद्या का ज्ञान करो कि उसका क्या फल है? जो कहो कि **'व्यावर्त्तकं विशेषणं भवतीति'** विशेषण भेदकारक होता है, तो इतना और भी मानो कि —**'प्रवर्त्तकं प्रकाशकमपि विशेषणं भवतीति'** विशेषण प्रवर्त्तक और प्रकाशक भी होता है । तो समझो कि **'अद्वैत'** विशेषण ब्रह्म का है । इसमें व्यावर्त्तक धर्म यह है कि अद्वैत वस्तु अर्थात् जो अनेक जीव और तत्त्व हैं, उन से ब्रह्म को पृथक् करता है । और विशेषण का प्रकाशक धर्म यह है कि —ब्रह्म के एक होने की प्रवृत्ति करता है । जैसे —**'अस्मिन्नगरेऽद्वितीयो धनाढ्यो देवदत्तः, अस्यां सेनायामद्वितीयः शूरवीरो विक्रमसिंहः ।'** किसी ने किसी से कहा कि इस नगर में अद्वितीय धनाढ्य देवदत्त और इस सेना में अद्वितीय शूरवीर विक्रमसिंह है । इससे क्या सिद्ध हुआ कि देवदत्त के सदृश इस नगर में दूसरा धनाढ्य, और इस सेना में विक्रमसिंह के समान दूसरा शूरवीर नहीं है । न्यून तो हैं । और पृथिवी आदि जड़ पदार्थ पश्वादि प्राणी और वृक्षादि भी हैं, उनका निषेध नहीं हो सकता । वैसे ही ब्रह्म के सदृश जीव वा प्रकृति नहीं

है, किन्तु न्यून तो हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सदा एक है, और जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्त्व अनेक हैं। उनसे भिन्न कर ब्रह्म के एकत्व को सिद्ध करने हारा **'अद्वैत'** वा **'अद्वितीय'** विशेषण है। इससे जीव वा प्रकृति का और कार्यरूप जगत् का अभाव और निषेध नहीं हो सकता। किन्तु ये सब हैं, परन्तु ब्रह्म के तुल्य नहीं। इससे न अद्वैतसिद्धि और न द्वैतसिद्धि की हानि होती है। घबराहट में मत पड़ो; सोचो और समझो।

(साधारण से साधर्म्य होने मात्र से एकता नहीं होती)

प्रश्न— ब्रह्म के सत् चित् आनन्द और जीव के अस्ति, भाति, प्रियरूप से एकता होती है। फिर क्यों खण्डन करते हो?

उत्तर— किञ्चित् साधर्म्य मिलने से एकता नहीं हो सकती। जैसे पृथिवी जड़ दृश्य है, वैसे जल और अग्नि आदि भी जड़ और दृश्य हैं; इतने से एकता नहीं होती। इनमें वैधर्म्य =भेदकारक अर्थात् विरुद्ध धर्म, जैसे —गन्ध, रूक्षता, काठिन्य आदि गुण पृथिवी, और रस द्रवत्व कोमलत्वादि धर्म जल और रूप दाहकत्वादि धर्म अग्नि के होने से एकता नहीं।

जैसे मनुष्य और कीड़ी आंख से देखते, मुख से खाते (और) पग से चलते हैं, तथापि मनुष्य की आकृति दो पग और कीड़ी की आकृति अनेक पग आदि भिन्न होने से एकता नहीं होती। वैसे परमेश्वर के अनन्त-ज्ञान-आनन्द-बल-क्रिया, निर्भ्रान्तित्व और व्यापकता जीव से, और जीव के अल्पज्ञान अल्पबल अल्पस्वरूप सब भ्रान्तित्व और परिच्छिन्नतादि गुण ब्रह्म से भिन्न होने से जीव और परमेश्वर एक नहीं। क्योंकि इनका स्वरूप भी (परमेश्वर अतिसूक्ष्म और जीव उससे कुछ स्थूल होने से) भिन्न है।

(भ्रम का कारण द्वैत बुद्धि)

प्रश्न— अथोदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति। (तैत्तिरीय उप० ब्रह्मा० अनु० ७) **द्वितीयाद्वै भयं भवति॥**

यह बृहदारण्यक का वचन है (१/४/२)

जो ब्रह्म और जीव में थोड़ा भी भेद करता है, उसको भय प्राप्त होता है। क्योंकि दूसरे ही से भय होता है॥

उत्तर— इसका अर्थ यह नहीं है। किन्तु जो जीव परमेश्वर का निषेध, वा किसी एक देश काल में परिच्छिन्न परमात्मा को माने, वा उसकी आज्ञा और गुण-कर्म-स्वभाव से विरुद्ध होवे, अथवा किसी दूसरे मनुष्य से वैर करे, उसको भय प्राप्त होता है। क्योंकि **'द्वितीय बुद्धि'** अर्थात् ईश्वर से मुझ से कुछ सम्बन्ध नहीं, तथा किसी मनुष्य से कहै कि तुझ को मैं कुछ नहीं समझता, तू मेरा कुछ भी नहीं कर

सकता, वा किसी की हानि करता और दुःख देता जाय, तो उसको उनसे भय होता है। और सब प्रकार का अविरोध हो, तो वे एक कहाते हैं। जैसे संसार में कहते हैं कि देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र एक हैं अर्थात् अविरुद्ध हैं। विरोध न रहने से सुख, और विरोध से दुःख प्राप्त होता है।

प्रश्न— ब्रह्म और जीव की सदा एकता अनेकता रहती है, वा कभी दोनों मिलके एक भी होते हैं, वा नहीं?

उत्तर— अभी इसके पूर्व कुछ उत्तर दे दिया है। परन्तु साधर्म्य अन्वयभाव से एकता होती है। जैसे आकाश से मूर्त्त द्रव्य जड़त्व होने से, और कभी पृथक् न रहने से एकता। और आकाश के विभु सूक्ष्म अरूप अनन्त आदि गुण, और मूर्त्त के परिच्छिन्न दृश्यत्व आदि वैधर्म्य से भेद होता है। अर्थात् जैसे पृथिव्यादि द्रव्य आकाश से भिन्न कभी नहीं रहते क्योंकि '**अन्वय**' अर्थात् अवकाश के बिना मूर्त्त द्रव्य कभी नहीं रह सकता, और '**व्यतिरेक**' अर्थात् स्वरूप से भिन्न होने से पृथक्ता है। वैसे ब्रह्म के व्यापक होने से जीव और पृथिवी आदि द्रव्य उससे अलग नहीं रहते, और स्वरूप से एक भी नहीं होते।

जैसे घर के बनाने के पूर्व भिन्न-भिन्न देश में मिट्टी लकड़ी और लोहा आदि पदार्थ आकाश में ही रहते हैं। जब घर बन गया तब भी आकाश में है। और जब वह नष्ट हो गया, अर्थात् उस घर

के सब अवयव भिन्न-भिन्न देश में प्राप्त हो गये; तब भी आकाश में हैं। अर्थात् तीन काल में आकाश से भिन्न नहीं हो सकते। और स्वरूप से भिन्न होने से न कभी एक थे; (न) हैं और (न) होंगे। इसी प्रकार जीव तथा सब संसार के पदार्थ परमेश्वर में व्याप्य होने से परमात्मा से तीनों कालों में अभिन्न और स्वरूप (से) भिन्न होने से एक कभी नहीं होते।

आजकल के वेदान्तियों की दृष्टि काणे पुरुष के समान अन्वय की ओर पड़ के व्यतिरेक-भाव से छूट विरुद्ध हो गई है। कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं है कि जिसमें सगुण-निर्गुणता, अन्वय-व्यतिरेक, साधर्म्य-वैधर्म्य और विशेष्य-विशेषण भाव न हो।

(ईश्वर सगुण भी है और निर्गुण भी)

प्रश्न— परमेश्वर सगुण है, वा निर्गुण ?

उत्तर— दोनों प्रकार है।

प्रश्न— भला एक मियान में दो तलवार कभी रह सकती हैं? एक पदार्थ में सगुणता और निर्गुणता कैसे रह सकती है?

उत्तर— जैसे जड़ के रूपादि गुण हैं, और चेतन के ज्ञानादि गुण जड़ में नहीं है, वैसे चेतन में इच्छादि गुण हैं, और रूपादि जड़ के गुण नहीं है। इसलिए **'यद्गुणैस्सह वर्त्तमानं तत्सगुणम्', 'गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तन्निर्गुणम्'** जो गुणों से सहित वह **'सगुण'**

और जो गुणों से रहित वह '**निर्गुण**' कहाता है। अपने -अपने स्वाभाविक गुणों से सहित, और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसमें केवल निर्गुणता वा केवल सगुणता हो। किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त-ज्ञान-बलादि गुणों से सहित होने से '**सगुण**' और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से '**निर्गुण**' कहाता है।

(निराकार को 'निर्गुण' और साकार को 'सगुण' कहना ठीक नहीं)

प्रश्न— संसार में निराकार को निर्गुण, और साकार को सगुण कहते हैं। अर्थात् जब परमेश्वर जन्म नहीं लेता तब 'निर्गुण' और जब अवतार लेता है तब 'सगुण' कहाता है?

उत्तर— यह कल्पना केवल अज्ञानी और अविद्वानों की है। जिनको विद्या नहीं होती, वे पशु के समान यथा-तथा बड़ाया करते हैं। जैसे सन्निपात ज्वरयुक्त मनुष्य अण्डबण्ड बकता है वैसे ही अविद्वानों के कहे वा लेख को व्यर्थ समझना चाहिए।

(ईश्वर न रागी है, और न ही विरक्त)

प्रश्न— परमेश्वर रागी है, वा विरक्त ?

उत्तर— दोनों में नहीं। क्योंकि '**राग**' अपने से भिन्न उत्तम

पदार्थों में होता है। सो परमेश्वर से कोई पदार्थ पृथक् वा उत्तम नहीं है। इसलिए उसमें राग का सम्भव नहीं। और जो प्राप्त को छोड़ देवे उसको '**विरक्त**' कहते हैं। ईश्वर व्यापक होने से किसी पदार्थ को छोड़ ही नहीं सकता, इसलिए विरक्त भी नहीं।

(ईश्वर में इच्छा नहीं हो सकती)

प्रश्न— ईश्वर में इच्छा है, वा नहीं।

उत्तर— वैसी इच्छा नहीं (जैसी जीवों में देखी जाती है)। क्योंकि **इच्छा** भी अप्राप्त, उत्तम और जिसकी प्राप्ति से सुख-विशेष होवे (उसकी होती है)। तो ईश्वर में इच्छा (कैसे) हो सके ? न उसे कोई अप्राप्त पदार्थ, **और** न कोई उससे उत्तम **है**। और पूर्ण सुखयुक्त होने से सुख की अभिलाषा भी (उसे) नहीं है। इसलिए ईश्वर में इच्छा का तो सम्भव नहीं, किन्तु '**ईक्षण**' अर्थात् (जो) सब प्रकार की विद्या का दर्शन, और सब सृष्टि का करना कहाता है; वह 'ईक्षण' है। इत्यादि संक्षिप्त विषयों से ही सज्जन लोग विस्तरण कर लेंगे॥

(वेद ईश्वर से प्रकशित हुए)

अब संक्षेप से ईश्वर का विषय लिखकर वेद का विषय लिखते हैं—

यस्मादृचो अपातक्षतन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भन्तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अथर्व० ।कां० ।१० प्रपा० २३ । अनु० ४ । मं० २० ॥

अर्थः— जिस परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रकाशित हुए हैं, वह कौन-सा देव है ? इसका उत्तर—जो सबको उत्पन्न करके धारण कर रहा है, वह परमात्मा है।

स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

यजु० ।अ० ४० । मं० ८ ॥

जो स्वयम्भू सर्वव्यापक शुद्ध सनातन निराकार परमेश्वर है, वह सनातन जीवरूप प्रजा के कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है।

प्रश्न— परमेश्वर को आप निराकार मानते हो, वा साकार ?

उत्तर— निराकार मानते हैं।

(जीवों को अन्तर्यामीरूप से वेदोपदेश)

प्रश्न— जब निराकार है, तो वेदविद्या का उपदेश बिना मुख के वर्णोच्चारण कैसे हो सका होगा ? क्योंकि वर्णों के उच्चारण में ताल्वादि स्थान, जिह्वा का प्रयत्न अवश्य होना चाहिए।

उत्तर— परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होने से जीवों को अपनी व्याप्ति से वेदविद्या के उपदेश करने में कुछ भी मुखादि की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि मुख जिह्वा से वर्णोच्चारण अपने से भिन्न को बोध होने के लिए किया जाता है; कुछ अपने लिए नहीं।

क्योंकि मुख जिह्वा के व्यापार करे बिना ही मन में अनेक व्यवहारों का विचार और शब्दोच्चारण होता रहता है । कानों को अंगुलियों से मूँद (के) देखो, सुनो कि बिना मुख-जिह्वा-ताल्वादि स्थानों के कैसे -कैसे शब्द हो रहे हैं । वैसे जीवों को अन्तर्यामीरूप से उपदेश किया है । किन्तु केवल दूसरे को समझाने के लिए उच्चारण करने की आवश्यकता है ।

जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है, तो अपनी अखिल वेद-विद्या का उपदेश जीवस्थ स्वरूप से ज़ीवात्मा में प्रकाशित कर देता है । फिर वह मनुष्य अपने मुख से उच्चारण करके दूसरों को सुनाता है । इसलिए ईश्वर में यह दोष नहीं आ सकता ।

प्रश्न— किनके आत्मा में कब वेदों का प्रकाश किया ?

उत्तर— अग्नेर्वा ऋग्वेदो जायते वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ।। शत० (११/५/८/३) ।।

प्रथम सृष्टि के आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा इन ऋषियों के आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किया ।

(ब्रह्मा को चारों वेद किससे मिले ?)

प्रश्न— यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।।

यह उपनिषद् का वचन है (श्वेताश्वर उप० ६/१८)

इस वचन से ब्रह्मा जी के हृदय में वेदों का उपदेश किया है। फिर अग्न्यादि ऋषियों के आत्मा में क्यों कहा ?

उत्तर— ब्रह्मा के आत्मा में अग्नि आदि के द्वारा स्थापित कराया। देखो ! मनु -(स्मृति) में क्या लिखा है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥

मनु० ।(१/१३)।

जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा से ऋग् यजुः, साम और अथर्ववेद का ग्रहण किया।

प्रश्न— उन चारों ही में वेदों का प्रकाश किया अन्य में नहीं। इससे ईश्वर पक्षपाती होता है।

उत्तर— वे ही चार सब जीवों से अधिक पवित्रात्मा थे। अन्य उनके सदृश नहीं थे। इसलिए पवित्र विद्या का प्रकाश उन्हीं में किया।

(वेदों का प्रकाश संस्कृत में ही क्यों ?)

प्रश्न— किसी देश भाषा में प्रकाश न करके संस्कृत में क्यों किया ?

उत्तर— जो किसी देश भाषा में प्रकाश करता तो, ईश्वर

पक्षपाती हो जाता। क्योंकि जिस देश की भाषा में प्रकाश करता उनको सुगमता, और विदेशियों को कठिनता वेदों के पढ़ने पढ़ाने की होती। इसलिए संस्कृत ही में प्रकाश किया; जो किसी देश की भाषा नहीं। और वेदभाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है, उसी में वेदों का प्रकाश किया। जैसे ईश्वर की पृथिवी आदि सृष्टि सब देश और देशवालों के लिए एकसी और सब शिल्पविद्या का कारण है, वैसे परमेश्वर की विद्या की भाषा भी एकसी होनी चाहिए, कि सब देशवालों को पढ़ने पढ़ाने में तुल्य परिश्रम होने से ईश्वर पक्षपाती नहीं होता। और सब भाषाओं का कारण भी है।

(वेदों को ईश्वर ने बनाया—इसमें प्रमाण)

प्रश्न— वेद ईश्वरकृत हैं, अन्यकृत नहीं। इसमें क्या प्रमाण ?

उत्तर— जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्धगुण-कर्म-स्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुण वाला है; वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वरकृत, अन्य नहीं। और इसमें सृष्टिक्रम प्रत्यक्षादि प्रमाण आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हो, वह ईश्वरोक्त। जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्तिरहित ज्ञान का प्रतिपादन हो; वह ईश्वरोक्त। जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टिक्रम रक्खा है; वैसा ही ईश्वर, सृष्टि, कार्य, कारण और जीव का प्रतिपादन

जिसमें होवे, वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है। और जो प्रत्यक्षादि प्रमाण विषयों से अविरुद्ध शुद्धात्मा के स्वभाव से विरुद्ध न हो। इस प्रकार के वेद हैं, अन्य बाइबल-कुरान आदि पुस्तकें नहीं।

(बिना ईश्वरीय ज्ञान के जीवों का अपने आप ज्ञानवान् होना सम्भव नहीं)

प्रश्न— वेद की ईश्वर से होने की आवश्यकता कुछ भी नहीं। क्योंकि मनुष्य लोग क्रमशः ज्ञान बढ़ाते जाकर पश्चात् पुस्तक भी बना लेंगे।

उत्तर— कभी नहीं बना सकते। क्योंकि बिना कारण के कार्योत्पत्ति का होना असम्भव है। जैसे जंगली मनुष्य सृष्टि को देख कर भी विद्वान् नहीं होते, और जब उनको कोई शिक्षक मिल जाय तो विद्वान् हो जाते हैं और अब भी किसी से पढ़े बिना कोई भी विद्वान् नहीं होता। इस प्रकार जो परमात्मा उन आदिसृष्टि के ऋषियों को वेदविद्या न पढ़ाता, और वे अन्य को न पढ़ाते, तो सब लोग अविद्वान् ही रह जाते। जैसे किसी के बालक को जन्म से एकान्त देश, अविद्वानों वा पशुओं के संग में रख देवे, तो वह जैसा संग है वैसा ही हो जायगा। इसका दृष्टान्त जंगली भील आदि हैं।

जब तक आर्यावर्त्त देश से शिक्षा नहीं गई थी, तब तक मिश्र, यूनान और यूरोप देश आदिस्थ मनुष्यों में कुछ भी विद्या नहीं हुई थी। और इंग्लैंड के कुलुम्बस आदि पुरुष अमेरिका में जब तक नहीं

गये थे, तब तक वे भी सहस्रों, लाखों, करोड़ों वर्षों से मूर्ख अर्थात् विद्याहीन थे। पुनः सुशिक्षा के पाने से विद्वान् हो गये हैं। वैसे ही परमात्मा से सृष्टि के आदि में विद्या शिक्षा की प्राप्ति से उत्तरोत्तर काल में विद्वान् होते आए।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥

योग सू० समाधिपाद २६ ॥

जैसे वर्त्तमान समय में हम लोग अध्यापकों से पढ़ ही के विद्वान् होते हैं, वैसे परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए अग्नि आदि ऋषियों का गुरु अर्थात् पढ़ानेहारा है। क्योंकि जैसे जीव सुषुप्ति और प्रलय में ज्ञानरहित हो जाते हैं, वैसा परमेश्वर नहीं होता। उसका ज्ञान नित्य है। इसलिए यह निश्चित जानना चाहिए कि बिना निमित्त से नैमित्तिक अर्थ सिद्ध कभी नहीं होता।

('अग्नि' आदि ऋषियों को वेद का अर्थ किसने समझाया)

प्रश्न— वेद संस्कृतभाषा में प्रकाशित हुए, और वे अग्नि आदि ऋषि लोग उस संस्कृतभाषा को नहीं जानते थे, फिर वेदों का अर्थ उन्होंने कैसे जाना ?

उत्तर— परमेश्वर ने जनाया। और धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब-जब जिस जिस के अर्थ को जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए, तब-तब परमात्मा ने अभीष्ट

मन्त्रों के अर्थ जनाये। जब बहुतों के आत्माओं में वेदार्थप्रकाश हुआ, तब ऋषि मुनियों ने वह अर्थ और ऋषि मुनियों के इतिहासपूर्वक ग्रन्थ बनाये। उनका नाम ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म जो वेद उसका व्याख्यान ग्रन्थ होने से '**ब्राह्मण**' नाम हुआ। और—

ऋषयो मन्त्रदृष्टयः, मन्त्रान् सम्प्रादुः। (निरु० १/२०)

जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस-जिस ऋषि को हुआ, और प्रथम ही जिसके पहिले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था; किया और दूसरों को पढ़ाया भी। इसलिए अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है। जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता बतलावें, उनको मिथ्यावादी समझें। वे तो मन्त्रों के अर्थप्रकाशक हैं।

(वेद-संज्ञा-विचार)

प्रश्न— वेद किन ग्रन्थों का नाम है ?

उतर— ऋक्, यजु; साम और अथर्व मन्त्रसंहिताओं का, अन्य का नहीं।

प्रश्न— मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ॥

इत्यादि कात्यायनादिकृत '**प्रतिज्ञासूत्रादि**' का अर्थ क्या करोगे ?

उत्तर— देखो ! संहिता पुस्तक के आरम्भ (और) अध्याय की समाप्ति में वेद यह सनातन से शब्द लिखा आता है। और ब्राह्मण

पुस्तक के आरम्भ वा अध्याय की समाप्ति में कहीं नहीं लिखा। और निरुक्त में—

इत्यपि निगमो भवति। इति च ब्राह्मणम्॥ (निरुक्त ५/३, ४)

छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि॥

यह पाणिनीय सूत्र (अष्टाध्यायी ४/२/६६) है।

इससे भी स्पष्ट विदित होता है कि वेद मन्त्रभाग, और ब्राह्मण व्याख्याभाग हैं। इसमें जो विशेष देखना चाहैं, तो मेरी बनाई '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में देख लीजिये। वहां अनेकशः प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन नहीं हो सकता, ऐसा ही सिद्ध किया गया है। क्योंकि जो मानें तो वेद सनातन कभी नहीं हो सकें। क्योंकि ब्राह्मण-पुस्तकों में बहुत-से ऋषि-महर्षि और राजादि के इतिहास लिखें हैं। और इतिहास जिसका हो उसके जन्म के पश्चात् लिखा जाता है। वह ग्रन्थ भी उसके जन्मे पश्चात् होता है। वेदों में किसी का इतिहास नहीं, किन्तु विशेष जिस-जिस शब्द से विद्या का बोध होवे, उस-उस शब्द का प्रयोग किया है। किसी मनुष्य की संज्ञा वा विशेष कथा का प्रसंग वेदों में नहीं।

(वेदों की शाखाएं)

प्रश्न— वेदों की कितनी शाखा हैं ?

उत्तर— एक हजार एक सौ सताईस।

प्रश्न— शाखा क्या कहाती हैं ?

उत्तर— व्याख्यान को शाखा कहते हैं।

(क्या शाखाएं वेद के अवयव हैं ?)

प्रश्न— संसार में विद्वान् वेद के अवयवभूत विभागों को शाखा मानते हैं?

उत्तर— तनिक सा विचार करो, तो ठीक। क्योंकि जितनी शाखा हैं, वे **आश्वलायन** आदि ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं और मन्त्रसंहिता परमेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसे चारों वेदों को परमेश्वकृत मानते हैं, वैसे **'आश्वलायनी'** आदि शाखाओं को उस-उस ऋषिकृत मानते हैं। और सब शाखाओं में मन्त्रों की प्रतीक धर के व्याख्या करते हैं। जैसे **तैत्तिरीय शाखा** में **'इषे त्वोर्जे त्वेति'** इत्यादि प्रतीकें धर के व्याख्यान किया है। और वेदसंहिताओं में किसी को प्रतीक नहीं धरी। इसलिए परमेश्वरकृत चारों वेद मूल वृक्ष और आश्वलायनादि सब शाखा ऋषि मुनिकृत हैं। परमेश्वरकृत नहीं।

जो इस विषय की विशेष व्याख्या देखना चाहैं, वे **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** में देख लेवें। जैसे माता पिता अपने सन्तानों पर कृपादृष्टि कर उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है। जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार भ्रमजाल से छूटकर विद्या विज्ञानरूप सूर्य को प्राप्त होकर अत्यानन्द में रहैं और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जायें।

(वेद की नित्यता-अनित्यता पर विचार)

प्रश्न— वेद नित्य हैं, वा अनित्य ?

उत्तर— नित्य हैं। क्योंकि परमेश्वर के नित्य होने से उसके ज्ञानादि गुण भी नित्य हैं। जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण-कर्म-स्वभाव नित्य और अनित्य द्रव्य के अनित्य होते हैं।

प्रश्न— क्या यह पुस्तक भी नित्य है ?

उत्तर— नहीं। क्योंकि पुस्तक तो पत्रे और स्याही का बना है, वह नित्य कैसे हो सकता है ? किन्तु जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध हैं, वे नित्य हैं ?

(सर्वज्ञ ईश्वर के बिना वेदों की रचना सम्भव नहीं)

प्रश्न— ईश्वर ने उन ऋषियों को ज्ञान दिया होगा, और उस ज्ञान से उन लोगों ने वेद बना लिए होंगे।

उत्तर— ज्ञान ज्ञेय के बिना नहीं होता। गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि और उदात्ताऽनुदात्तादि स्वर के ज्ञानपूर्वक गायत्र्यादि छन्दों के निर्माण करने में सर्वज्ञ के बिना किसी का सामर्थ्य नहीं है कि इस प्रकार का सर्वज्ञानयुक्त शास्त्र बना सके। हां ! वेद को पढ़ने के पश्चात् व्याकरण, निरुक्त और छन्द आदि ग्रन्थ ऋषि मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिए किए हैं। जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे, तो कोई कुछ भी न बना सके। इसलिये वेद परमेश्वरोक्त

हैं। इन्हीं के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिए और जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा क्या मत है, तो यही उत्तर देना कि हमारा मत वेद अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है, हम उसको मानते हैं।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
ईश्वरवेदविषये सुभाषाविभूषिते
सप्तमः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥

ईश्वर कैसा है ? वह क्या करता है ? देवता कौन है और वे कितने हैं ? उपासना किसकी करें और कैसे करें ? उपासना का फल क्या है ? सगुण-निर्गुण उपासना क्या है ? पाप क्षमा होते हैं या नहीं ? जीव [illegible]वतन्त्र है या परतन्त्र ? जीव और ब्रह्म एक ही हैं या [illegible]-अलग ? 'अहं ब्रह्मास्मि' का क्या तात्पर्य है ? [illegible] किन ग्रन्थों का नाम है और वेद किसने बनाए ? [illegible]दि गुरु कौन है ?

आप इन तथा ऐसे ही अन्य प्रश्नों का उत्तर जानना [illegible] हैं, तो इस पुस्तक को बहुत ध्यान से तथा [illegible] प्रक[illegible] का पूर्वाग्रह छोड़कर अवश्य पढ़िए।